सिद्धान्त-समीक्षा

भाग २

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रकाशक के दो शब्द

पं. जीवन्धरजी शास्त्री और प्रो. हीरालालजी के प्रस्तुत लेखों में दिगम्बर सम्प्रदायके आधारभूत ग्रंथोंकी कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओंपर गंभीर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। यद्यपि ये लेख खंडेलवाल-जैन-हितेच्छु व जैन-सिद्धान्त-भास्कर में प्रकाशित हो चुके हैं, तथापि एकत्र उपलब्ध न होनेसे जिज्ञासुओंको उनपर विचार और मनन करनेका अवसर नहीं मिल पाता। अतएव जिस-प्रकार सिद्धान्त समीक्षाके प्रथम भागमें पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री और प्रोफेसर हीरालालजी के लेख प्रकाशित किये गये हैं, उसी हेतुसे वे सब लेख यहां एकत्र प्रकाशित किये जाते हैं।

नाथूराम प्रेमी

सिद्धान्त-समीक्षा

भाग -२

प्राक्कथन

मैंने दिसम्बर १९४४ में हुए अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलनके 'प्राकृत और जैनधर्म' विभागके अन्तर्गत विचार विनिमय की बैठकमें यह प्रश्न प्रस्तुत किया था कि "क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनोंमें कोई मौलिक भेद है ?" इस तत्वचर्चा की व्यवस्थाके लिये मैंने तीन पृष्ठोंका एक पत्रक भी प्रस्तुत किया था जिसे उक्त चर्चा के कोई पांच छह माह पश्चात् बम्बई के कुछ सज्जनोंने मेरी अनुमति व सूचनादि के विना ही पुनः छपाकर समाजमें वितरण किया और विद्वानोंसे उसका विरोध करनेकी प्रेरणा की। इसके फल स्वरूप इंदौर से खंडेलवाल-जैन-हितेच्छु में पंडित जीवन्धरजी शास्त्रीके जो तीन लेख प्रकट हुए और उनके मैंने जो उत्तर दिये वे तथा उन्हीं विषयोंसे सम्बद्ध मेरे अन्यत्र प्रकाशित लेख यहां संग्रह किये गये हैं। इन सब लेखोंमें मेरे पूर्वोक्त पत्रक द्वारा प्रस्तुत तीन प्रश्नोंमें से दो की उहापोह की गई है कि क्या मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थान माने जानेपर भी द्रव्यस्त्रीके संयम ग्रहण व मोक्ष गमन की अर्थापत्तिसे बचा जा सकता है, व क्या केवली के असाता कर्मका उदय मानकर भी उनके तज्जन्य भूख-प्यासादिकी वेदनाके प्रसङ्ग को टाला जा सकता है ? जिज्ञासु व मर्मज्ञ पाठक इन विषयोंपर गंभीरता से विचार कर सकें यही इस लेख-संग्रह का उद्देश है।

हीरालाल

१

क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके शासनोंमें कोई मौलिक भेद हैं?

अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन

१२ वां अधिवेशन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय।

"प्राकृत और जैन धर्म" विभागके सन्मुख विचारार्थ प्रस्तुत विषय

(अध्यक्ष—**प्रो. हीरालाल जैन**, एम्. ए., एल्.एल्. बी.)

जैन समाजके दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो सम्प्रदाय मुख्य हैं। इन सम्प्रदायोंमें शास्त्रीय मान्यता सम्बन्धी जो भेद हैं उनमें प्रधानतः तीन बातों में मतभेद पाये जाते हैं। एक स्त्रीमुक्तिके विषयपर, दूसरे संयमी मुनिके लिये नग्नताके विषयपर, और तीसरे केवलज्ञानीके भूख प्यास आदि वेदनाएं होती हैं या नहीं इस विषयपर। इन विषयोंपर क्रमशः विचार करनेकी आवश्यकता है।

१. स्त्रीमुक्ति

श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्षका अधिकारी है, उसी प्रकार स्त्री भी है। पर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित आम्नायमें स्त्रियोंको मोक्षकी अधिकारिणी नहीं माना गया। इस बातका स्वयं दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य शास्त्रोंसे कहां तक समर्थन होता है यह बात विचारणीय है। कुन्दकुन्दाचार्यने अपने ग्रंथोंमें स्त्रीमुक्तिका स्पष्टतः निषेध किया है।

तात्पर्य ही क्या रहा? किसी भी उपांग विशेषको पुरुष या स्त्री वेद कहा ही क्यों जाय? अपने विशेष उपांगके विना अमुक वेद उदयमें आवेगा ही किस प्रकार? यदि आसकता है तो इसी प्रकार। पांचों इंद्रियज्ञान भी पांचों द्रव्येन्द्रियोंके परस्पर संयोगसे पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते? इत्यादि।

इस प्रकार विचार करनेसे जान पड़ता है कि या तो स्त्रीवेदसे ही क्षपकश्रेणी चढना नहीं मानना चाहिये, और यदि माना जाय तो स्त्रीमुक्ति के प्रसंगसे बचा नही जा सकता। उपलब्ध शास्त्रीय गुणस्थान विवेचन और कर्म सिद्धान्तमें स्त्रीमुक्तिसे निषेध की मान्यता नही बनती।

२. संयमी और वस्त्रत्याग

श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार मनुष्य वस्त्र त्याग करके सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है, और वस्त्रका सर्वथा त्याग न करके भी मोक्षका अधिकारी हो सकता है। पर प्रचलित दिगम्बर मान्यतानुसार वस्त्रके सम्पूर्ण त्यागसे ही संयमी और मोक्षका अधिकारी हो सकता है। अतएव इस विषयका शास्त्रीय चिन्तन आवश्यक है।

१ दिगम्बर सम्प्रदायके अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ भगवती आराधनामें मुनिके उत्सर्ग और अपवाद मार्गका विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है (देखो गाथा ७९–८३)।

२. तत्त्वार्थसूत्रमें पांच प्रकारके निर्ग्रंथोंका निर्देश किया गया है जिनका विशेष स्वरूप सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक टीकामें समझाया गया है (देखो अध्याय ९, सूत्र ४६–४७)। इसके अनुसार कहीं भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता। बल्कि बकुश निर्ग्रंथ

तो शरीरसंस्कारके विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं। यद्यपि प्रतिसेवनी कुशीलके मूलगुणोंकी विराधना न होनेका उल्लेख किया गया है, तथापि द्रव्यलिंगसे पांचों ही निर्ग्रंथोंमें विकल्प स्वीकार किया गया है "भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः"। (त. सू. ९, ४७ स. सि.) इसका टीका-कारोंने यही अर्थ किया है कि कभी कभी मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं। मुक्ति भी सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ दोनों लिंगोंसे कही गई है। "निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया" (त. सू. १०, ९ स सि.)। यहां भूतपूर्वनयका अभिप्राय सिद्ध होनेसे अनन्तर पूर्वका है।

३. धवलाकारने प्रमत्तसंयतोंका स्वरूप बतलाते हुए जो संयमकी परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतोंके पालनका ही उल्लेख है—"संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः"।

इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार भी मुनिके लिये एकान्ततः वस्त्रत्यागका विधान नहीं पाया जाता। हां, कुन्दकुन्दाचार्यने ऐसा विधान किया है, पर उसका उक्त प्रमाण ग्रंथोंसे मेल नहीं बैठता।

३. केवलीके भूख-प्यासादि की वेदना

कुन्दकुन्दाचार्यने केवलीके भूख-प्यासादिकी वेदनाका निषेध किया है। पर तत्वार्थसूत्रकारने सबलतासे कर्मसिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदय जन्य क्षुधा-पिपासादि ग्यारह परीषह केवलीके भी होते हैं (देखो अध्याय ९ सूत्र ८-१७)। सर्वार्थ-सिद्धिकार एवं राजवार्तिककारने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोदयके अभावमें वेदनीयका प्रभाव जर्जरित हो जाता

है इससे वे वेदनाएं केवलीके नहीं होतीं। किन्तु कर्मसिद्धान्तसे यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीय के अभावमें राग-द्वेष परिणतिका अभाव अवश्य होगा, पर वेदनीय जन्य वेदनाका अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीयकर्मके अभावके पश्चात् वेदनीयका उदय माना ही क्यों जाता? वेदनीयका उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थानमें भी आयुके अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्संबंधी वेदनाओंका अभाव मानना शास्त्रसम्मत नहीं ठहरता।

दूसरे, समन्तभद्र स्वामीने आप्तमीमांसामें वीतरागके भी सुख और दुःखका सद्भाव स्वीकार किया है यथा—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥ ९३॥

२

प्रो. हीरालालजी द्वारा कथित तर्कोंपर विचार

(लेखक—श्रीमान् पं० जीवन्धरजी, न्यायतीर्थ, इन्दौर)

स्त्री मुक्ति के संबन्ध में प्रो. हीरालालजी साहब ने आगम प्रमाण की समीक्षा करते समय आचार्य पूज्यपाद, नेमीचन्द्र, अमित गति तथा गोम्मटसार के टीकाकारों के संबन्ध में अपने तर्क से उनकी व्याख्याओंको असंगत बनाने की चेष्टा की है, हम नीचे उनके तर्कों पर विचार करते हैं—

(१) प्रथम तर्क के संबन्ध में हमें यही कहना है कि जब षट्खण्डागम के अनुसार नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार की रचना की तब इतनी मोटी शब्द-रचना उनकी बुद्धि से अगम्य नहीं मानी जा सकती। प्रत्येक समझदार यह मान सकता है कि नेमिचन्द्राचार्य "योनिनी" शब्द का अभिप्राय समझ सके होंगे; उस के बाद ही उन्होंने भाव स्त्री को श्रेणि मांडने का अधिकार बतलाया और द्रव्य स्त्री को निषेध किया।

(२) जहां वेदमात्र की विवक्षासे कथन किया गया वहां आपके लिखे माफिक ८ वें (९ वां चाहिए) गुणस्थान तक है, परन्तु द्रव्य स्त्री को छठा गुणस्थान भी दिगंबर जैन सिद्धांत में नहीं माना जो कि मूल षट्खण्डागम में, नेमिचन्द्राचार्य कृत प्राकृतिक ग्रंथों में व उनकी व्याख्याओं में प्रसिद्ध है, तब क्षपक श्रेणी व उपशम श्रेणीकी योग्यता का प्रश्न ही नहीं हो सकता, मुक्ति की बात तो दूर है।

(३) कर्मसिद्धांत के अनुसार वेदवैषम्य सिद्ध नहीं होता यह तर्क विचारणीय है। गो. जीवकाण्ड वेदमार्गणा निरूपण गाथा नं. २७०—पुरिसित्थिसंढवेदोदयेण पुरिसित्थिसंढओ भावे। णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा॥ के आधार पर विचार करने से यह मालूम पड़ता है कि वेद जो कि मोहनीय कर्म (घातिया) है उसके उदय से वेद परिणाम उत्पन्न होते हैं, और नाम कर्म के उदय से शरीर में चिन्ह रचना होती है जो कि भिन्न कर्मों का कार्य है। इसमें वैषम्य होने में कोई बाधा नहीं होती। जैसे द्रव्य लेश्या व

भाव लेश्या में यह बात स्पष्ट है कि भाव शुक्लेश्यावाले के द्रव्य कृष्ण लेश्या आदि अनेक वैषम्य होने में कोई बाधा नहीं है। उसी प्रकार वेदवषम्य को यथार्थ संभव समझकर विद्वान् आचार्यों ने वर्णन किया। प्रो. साहब ने यह बात लक्ष्य में नहीं दी, क्योंकि द्रव्य स्त्रियों को मुक्ति किस तरह प्राप्त हो सके यही उनका मुख्य उद्देश्य था; उसीमें उनकी दृष्टि लगी हुई है। आपने यह बतलाया कि " चक्षुरिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से कर्ण की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी।" उसके संबंध में यह आपको ध्यान दिलाना है कि चक्षुरिन्द्रियावरण के क्षयोपशम से चक्षुद्रव्येन्द्रिय भी नहीं उत्पन्न होती। जन्मांध मनुष्य इस बात का खासा प्रमाण है। शरीर चिन्ह आंगोपांग नामा पुद्गलविपाकी कर्म का काम है और जीव के भाव जीवविपाकी कर्म के उदय के कार्य हैं जो कि भिन्न ही हैं। आपके स्थूल तर्क द्रव्य स्त्री को मोक्ष न पहुंचा सकेंगे। शरीर में चिन्ह भिन्न होते हुए भी वेद के उदय से भिन्न भाव होते हैं। यदि एक भी प्राणी में वेदवैषम्य पाया गया तो जीवन भर वेद नहीं बदल सकता, यह बात अयुक्त है। वेदवैषम्य तो वेद मार्गणा के गाथा नं. २७० में श्री नेमिचन्द्रजी ने बतलाया ही है।

(४) चौथी तर्क के बाबत यह कहना है कि शरीर में स्त्री व पुरुष के चिन्हों के साथ नपुंसक के चिन्ह भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। आपने चलते फिरते नपुंसकों को नहीं देखा जिन्हें लोग नपुंसक कहते हैं। उनके पुरुषों के समान दाढ़ी मूंछ नहीं होती।

तथा स्त्रियों सरीखे स्तनादि उपांग भी नहीं होते। तब आप दो ही चिन्ह द्रव्य में पाये जाते है यह बात असंगत ही लिखते हैं। आपने वेदवैषम्य मानने में अनेक प्रश्न खड़े होते बतलाये। इसमें यह विचारणीय है कि प्रश्न खड़े होने पर ही समाधान होता है। वेदकर्म जनित जीव के परिणामों को भाववेद कहते हैं। वे परोक्ष हैं। उनके आधार पर लोकव्यवहार नहीं होता, और जिसे द्रव्य वेद कहते हैं वह नाम कर्म के उदयजनित शरीर के चिन्ह है, उसी के आधार पर लोकव्यवहार में स्त्री पुरुष कहा जाता है। यद्यपि वेद शब्द समान है, परन्तु आप तो आगम के अनुसार उसका विभाजन कर सकते हैं मिश्रण कर लिखने से मामूली ज्ञानी को भ्रम में डालना है। आपने यह बतलाया कि उपांग के बिना वेद उदय में कैसे आयगा, यह बात भी विचारणीय है। यदि द्रव्य के बिना भाव उदय में न आये तब जन्मान्धको द्रव्य चक्षुओंके बिना क्षयो-पशम क्यों मानना चाहिये अथवा महल मकान धन आदि द्रव्य साधनों के अभाव में दरिद्री को मोह उदय क्यों माना जाय?

आगे आपने पांचों इन्द्रियों के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार के ज्ञान बतलाये सो भी विचारणीय है। प्रो० साहब जानते हैं कि ज्ञानी तो पंचेन्द्रिय संपन्न एक ही आत्मा जैनाचार्यों ने माना है; एक शरीर में पांच आत्मा पृथक् नहीं हैं जिससे आपको इस बातका भय हुआ कि पच्चीस प्रकार के ज्ञान होजाने से पांच आत्मा एक शरीर में पृथक् न रह सकेंगे। ज्ञानों के भेद असंख्यात प्रकार के संयोगी व भिन्न होते ही हैं। आप एक सेवफल को जब जुखाम हो रहा हो तो खाइये तब आप देखेंगे कि रस के मिठास का ज्ञान

तो जरूर होवेगा परन्तु उस स्वाद में स्वस्थ अवस्था के से स्वाद से भिन्नता अवश्य पाई जायगी। इसी प्रकार नाक दबाकर जल पीओ तब जल का रस ज्ञान होगा, परन्तु नाक खोलकर पीने से जो ज्ञान होता है वह न होगा। इससे यह तो स्पष्ट है कि संयोगी ज्ञान अनेक होना स्वाभाविक है, जब कि एक शरीर में एक ही पंचेन्द्रिय सम्पन्न आत्मा है। यह कल्पना आपकी द्रव्यस्त्री को मोक्ष अधिकार नहीं दिला सकती।

मैं एक बात और भी इस सम्बन्ध में लिखना चाहता हूँ कि प्रोफेसर साहब ने केवल आगम वाक्य ही बताकर स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया हो यह बात नहीं है। उन्होंने काफी युक्तिवाद का संग्रह किया है जो कि उनकी खुद की कल्पनायें हैं जिनका निराकरण ऊपर किया जा चुका है। अब मैं उन तर्कों का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता जो आचार्य प्रवर तार्किक-सूर्य प्रभाचन्द्रजी ने अपने लिखे हुए प्रमेय-कमल-मार्तंड में दिये हैं (१) आगम प्रमाण उन्होंने यह दिया है (देखिये पुस्तकाकार प्रकाशित मार्तंड का ३३३ वां पेज) "नाप्यागमात्, तन्मुक्तिप्रतिपादकस्यास्याभावात्" अर्थ—आगम से भी द्रव्य स्त्री का मोक्ष नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि स्त्री को मोक्ष बतलाने वाले आगम का अभाव है।

गाथा—"पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा॥
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति॥१॥

उपरोक्त प्राचीन गाथा स्फुट रूप से द्रव्य स्त्री मुक्ति की निषेधक है। (१) पुंवेद ही मोक्ष का प्रयोजक है। (२) स्त्री वेद नाम कर्म अशुभ कर्म है जिसे मोक्ष जाने वाला जीव पूर्वभव में

ही निर्जीर्ण कर देता है, इससे वह स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं करता। ऐसी दशामें द्रव्य स्त्री मुक्ति नहीं पा सकती। वह वेद नाम-कर्म अशुभ है, इसका प्रमाण यह है कि सम्यक्‌दृष्टि जीव स्त्री पर्याय नहीं पाता। स्वामी समन्तभद्राचार्यने स्वरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्‌नपुंसकस्त्रीत्वानि' इसे प्रोफेसर सा० ने नहीं विचारा। प्रभाचन्द्रजी ने खुलासा लिखा है कि तद्‌भव मोक्षगामी भी वही जीव है जिसने पूर्व भव में स्त्री वेद को (अशुभ कर्मों में) निर्जीर्ण कर दिया हो।

(५) एक बात यह भी है कि उत्कृष्ट ध्यान वाला ही मोक्ष प्राप्त करता है। उत्कृष्ट ध्यान का संबन्ध वज्रवृषभनाराचसंहनन से है। वही जीव उत्कृष्ट दुर्ध्यान से सप्तम नरक जाता है। यह बात स्त्रीवेद में नहीं है। उसी प्रकार उत्कृष्ट सद्‌ध्यान उसी संहनन-वाले को मोक्ष प्रापक है। यह संहनन स्त्रियों में नहीं पाया जाता। तब किस कर्म सिद्धान्त के आधार पर आप द्रव्य स्त्री को मोक्ष कहते हैं।

(६) दिगंबर सिद्धांत निश्चेल संयम से मोक्ष मानता है। सचेल संयम मोक्ष का प्रापक नहीं, क्योंकि स्त्रियां कभी वस्त्र नहीं छोड़ सकतीं, इसलिये भी उन्हें मोक्ष की व्यवस्था का समर्थन नहीं बनता।

श्री प्रभाचन्द्रजी ने लिखा है (देखिये प्र. क. मार्तंड पेज नं. ३३१ नया एडीशन) 'किञ्च बाह्याभ्यंतर-परिग्रह-परित्यागः संयमः, स च याचन-सीवन-प्रक्षालन-शोषण-निक्षेपादान-चौरहरणादि-

मनःसंक्षोभकारिणि वस्त्रे गृहीते कथं स्यात्? प्रत्युत संयमोपघातकमेव स्यात्, बाह्याभ्यंतरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिपन्थित्वात्।'

इत्यादि बहुतसे प्रमाण व युक्तियां यह सिद्ध करती हैं कि दिगम्बर जैन सिद्धांतानुसार द्रव्य स्त्री को पंच महाव्रत नहीं हो सकते, अतएव मोक्ष का विचार संतोषजनक रीति से निबट जाता है। यह विचार तत्व दृष्टि से प्रभावित था, किसी लौकिक श्रेय की प्राप्ति से नहीं। शेष दो बातों (सवस्त्र संयम और केवली का कवलाहार) के सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा।

(खंडेलवाल जैन हितेच्छु, इंदौर, वर्ष २४, अंक २०; ता. १६ ऑगस्ट १९४४).

२

पं. जीवन्धरजी के विचारों पर मेरी कठिनाइयां

(लेखक—प्रोफेसर हीरालालजी, नागपुर)

खण्डेलवाल जैन हितेच्छु के ता. १६ अगस्त १९४४ वर्ष २४, अंक २० में श्रीयुत पं. जीवन्धरजी सा. न्यायतीर्थ इन्दौर ने "प्रो. हीरालालजी द्वारा कथित तर्कों पर विचार" शीर्षक लेख में कुछ सैद्धान्तिक विचार प्रकट किये हैं जिन पर से मुझे निम्न शंकाएं उत्पन्न होती हैं। कृपा कर पंडितजी इनका समाधान करने का अनुग्रह करेंगे—

(१) नेमिचन्द्राचार्य ने योनि शब्द का अर्थ जीवकाण्ड की गाथा ८१ से ८९ तक अच्छी तरह समझाया है जिससे उसका

अर्थ द्रव्य स्त्रीवेद सुस्पष्ट हो जाता है। फिर उन्होंने जहां गाथा १५५ में योनिनी शब्द का उपयोग किया है वहां दोनों संस्कृत टीकाओं एवं पं० टोडरमलजी की हिंदी टीका में भी उसका अर्थ द्रव्य स्त्री-ग्रहण किया गया है। यह व्यवस्था ठीक है या नहीं?

(२) पंडितजी ने लिखा है कि "द्रव्य स्त्री को छठा गुणस्थान भी दिगंबर जैन सिद्धान्त में नहीं माना जो कि मूल षट्खंडागम में, नेमिचन्द्राचार्यकृत प्राकृतिक ग्रन्थों में, व उनकी व्याख्याओं में प्रसिद्ध है।" कृपा कर पंडितजी मूल षट्खंडागम का वह सूत्र तथा नेमिचन्द्राचार्यकृत वह प्राकृत गाथा उद्धृत करें जिसमें द्रव्यस्त्री को छठे गुणस्थान का निषेध किया गया हो!

(३) पंडितजी के तीसरे वाक्य समूह में (क) वेदवैषम्यका समर्थन, (ख) लेश्या और वेद के द्रव्य और भाव की तुलना, (ग) क्षयोपशम के विना द्रव्येन्द्रिय की उत्पत्ति, एवं (घ) एक ही भव में वेदसंक्रमण, ये चार बातें विचारणीय हैं—

(क) वेदवैषम्य के समर्थन में पंडितजी ने गोम्मटसार की वह गाथा उद्धृत की है जिसमें कहा गया है कि "तीनों वेद नामकर्मोदय जन्य अपने अपने द्रव्यवेद से प्राय: तो सम होते हैं, पर कहीं विषम भी होते हैं।" कृपया पंडितजी यह स्पष्ट करके समझावें कि भाव और द्रव्य वेदों में परस्पर प्राय: समत्व किस आनुषंगिक शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है, (अर्थात् जिस रूप वेदोदय हो उसी रूप अंगोपांग रचना हो यह नियम कहां से उत्पन्न होता है,) और कहीं विषमता रूप अपवाद किस विरोधी कारण से उत्पन्न होता है! यह भी बतावें कि प्रत्येक भाव और द्रव्य वेद में परस्पर कोई सम्बन्ध है या नहीं!

(ख) भाव लेश्याओं का शरीर के किन्हीं अवयव विशेषों से सम्बन्ध नहीं है। इसीसे वे जीवन में बदलती भी रहती हैं। अतएव आलापों में भाव और द्रव्य लेश्याओं की व्यवस्था प्रत्येक मार्गणामें पृथक् बताई गई है। इन कारणों से वेदों की तुलना लेश्याओं से नहीं बनती। यदि तुलना करना है तो द्रव्य और भाव वेदों की द्रव्य और भाव मनसे, अथवा द्रव्य और भाव इन्द्रियों से की जासकती है जिनका शरीर के अवयव विशेषों से सम्बन्ध है। क्या भावमन और द्रव्यमन, अथवा भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय विषम रूप से उत्पन्न हो सकते हैं?

(ग) पंडितजी का कथन है कि "चक्षुरिन्द्रियावरण के क्षयोपशम से चक्षुद्रव्येन्द्रिय भी नहीं उत्पन्न होती"। यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या विना चक्षुरिन्द्रियावरण के क्षयोपशमके द्रव्य चक्षुरिन्द्रिय की रचना हो सकती है, और क्या उससे रूप का ज्ञान हो सकता है? इंन्द्रियों की उत्पत्ति में तत्सम्बन्धी लब्धि तो सर्व प्रथम निमित्त कारण मानी गयी है, और निर्वृत्ति व उपकरण उसी का अनुकरण करने वाले कहे गये हैं। जन्मान्ध मनुष्य का उदाहरण किसलिये दिया गया है यह समझ में नहीं आया। क्या अन्धे मनुष्य को योग्य द्रव्येन्द्रिय के अभाव में भी किसी दूसरे उपांग द्वारा रूप का ज्ञान होजाता है? यदि नहीं, तो क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि चक्षुज्ञानावरणीय के क्षयोपशम को उपयोग में लाने के लिए चक्षुरूप द्रव्य-इन्द्रिय की ही आवश्यकता होती है, अन्य प्रकार के अवयव द्वारा उसका उपयोग नहीं हो सकता? क्या यही व्यवस्था भाव वेद और तत्सम्बन्धी उपांग रूप द्रव्य वेद के लिए घटित नहीं होगी?

(घ) पंडितजी का कथन है कि "जीवन भर वेद नहीं बदल सकता, यह बात अयुक्त है"। कृपया पंडितजी ऐसे आगम-वाक्य या ऐसी सैद्धांतिक व्यवस्था प्रस्तुत करें जिससे एक ही भव में वेद के बदलने की मान्यता सिद्ध होती हो।

(४) अपने चौथे वाक्य-समूह में पंडितजी ने (क) दाढ़ी मूंछ आदि अवयवों को वेद चिन्ह मानना, (ख) इन्द्रियों के संयोगी भंगों की संभावना, एवं (ग) स्त्रीवेद नामकर्म रूप अशुभ प्रकृति का मोक्षगामी जीव के पूर्व भव में ही क्षय होना, ये तीन बातें बतलाई हैं जो विचारणीय हैं—

(क) दाढ़ी मूंछ का होना न होना किसी वेद के सद्भाव व अभाव का सूचक नहीं हो सकता। कुछ मनुष्यों के ये नहीं होते तथा गाय बैल आदि तिर्यंचों में वे सर्वथा नहीं पाये जाते। इससे क्या वे सब नपुंसकलिंगी या स्त्रीलिंगी होगये? वेद के सच्चे चिन्ह तो योनि और मेहन ही हैं, इन्हीं को क्रमशः द्रव्य स्त्रीवेद और द्रव्य पुरुष वेद माना है। और इन्हीं में किसी अपूर्णता के कारण मनुष्य नपुंसकलिंगी होता है।

(ख) संयोगी भंगों के सम्बन्ध में मेरे कथन का पंडितजी ने उचित अर्थ ग्रहण नहीं किया। मेरा कहना यह था कि यदि एक ही द्रव्यवेद से तीनों भाववेदों का उदय हो सकता है, तो उसी प्रकार किसी भी एक ही इन्द्रिय रूप अवयव से स्पर्श आदि पांचों विषयों का बोध भी हो जाना चाहिये। पंडितजी ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि यदि रसना इन्द्रिय काम नहीं करती

तो रसका स्वाद नहीं आता; यदि नाक दबाकर पान किया जाय तो गन्ध का ज्ञान न होगा। इससे तो यही सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भावोदय के लिये उसीके अनुषंगी द्रव्य उपांग की ही आवश्यकता पड़ती है। अब यदि रसना रूप उपांग से गन्ध का बोध नहीं हो सकता, तब फिर एक भाव वेद किसी भिन्न द्रव्य वेद के द्वारा उदय में कैसे आ सकेगा?

(ग) पंडितजी ने लिखा है कि "स्त्रीवेद नामकर्म अशुभ है जिसे मोक्ष जानेवाला जीव पूर्व भव में ही निर्जीर्ण कर देता है, इससे वह स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं करता।" किन्तु नाम-कर्म के भीतर स्त्रीवेद नामकी कौनसी प्रकृति है यह मेरी समझ में नहीं आया। यदि पंडितजी का अभिप्राय अंगोपांग नाम कर्म से है तो इसके अंतर्गत उक्त नामकी कोई प्रकृति नहीं गिनाई गई, एवं अंगोपांग नामकर्म की औदारिक आदि तीनों प्रकृतियां शुभ मानी गई हैं, अशुभ नहीं। स्त्रीवेद तो केवल मोहनीय कर्म की प्रकृति है और वही अन्य वेदों के समान अशुभ मानी गई है। यदि मोक्ष जाने वाला जीव इसी प्रकृति को अपने पूर्व भव में क्षय कर देता है, तब फिर स्त्रीवेद से श्रेणी चढ़ने के विधान का क्या तात्पर्य है?

(५) वज्रवृषभनाराचसंहनन के स्त्रियों में अभाव की मान्यता के सम्बन्ध में दो बातें गवेषणीय हैं। (क) एक तो यह कि उक्त मान्यता की आगम परम्परा कितनी प्राचीन है; और (ख) दूसरी यह कि उस मान्यता की कर्मसिद्धान्त व्यवस्था से कहां तक संगति बैठती है।

(क) आगम परम्परा में मुझे उक्त मान्यता गोम्मटसार से पूर्व के किसी ग्रन्थ में दृष्टिगोचर नहीं हुई। गोम्मटसार में भी उक्त निषेध का कथन कर्मकाण्ड के प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार की एक गाथा में किया गया है जहां यथार्थतः न तो कर्मों के उदय का प्रकरण है और न संहननों के उदय की ही पूरी व्यवस्था बतलाई गयी। वहां केवल कर्मभूमि की महिलाओं में आदि के तीन संहननों के उदय का अभाव कह दिया गया है। किन्तु उसी ग्रन्थ के ही कर्मोदय प्रकरण में जहां व्यवस्था से प्रकृतियों के उदय का निरूपण किया गया है, वहां उक्त निषेध का पता नहीं चलता। बल्कि मनुष्य और मनुष्यनी एवं तिर्यंच और योनिमती तिर्यंचों में भी छहों संहननों का उदय स्वीकार किया गया है। यहां यदि कोई निषेध किया गया है तो केवल यह कि भोगभूमि में प्रथम को छोड़ शेष संहननों का उदय नहीं होता। यहां स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस उदय प्रकरण में कर्मभूमि सम्बन्धी उक्त निषेध का उल्लेख क्यों नहीं किया गया और जहां उसका प्रकरण नहीं है वहां क्यों किया गया?

(ख) जब हम कर्मों की सैद्धान्तिक व्यवस्था से विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि प्रथम संहनन के उदय का स्त्रीवेदसे विरोध नहीं है क्योंकि मनुष्यनी और योनिमती तिर्यंचों में उसके उदय का विधान है ही, एवं स्त्रीवेदियों द्वारा श्रेणीका आरोहण स्वीकार किया गया है। न द्रव्य स्त्रीवेद से उसका कोई विरोध है क्योंकि भोगभूमि की महिलाओं में तो उसीका उदय माना गया है और न कर्मभूमि से उसका विरोध है क्योंकि यहां ही तो उसके उदय

सहित मनुष्य और मनुष्यनी उपशम व क्षपक दोनों श्रेणियों का आरोहण करते हैं। तब फिर कौनसे विरोध के कारण उक्त निषेध सिद्ध होता है, यह चिन्तनीय है।

आशा है, इन शंकाओं का पंडितजी समाधान करने की कृपा करेंगे।

(खंडेलवाल जैन हितेच्छु, इन्दौर, वर्ष २४, अंक २३; ता०१ अक्टूबर १९४४).

४

प्रो० हीरालालजी की कठिनाइयों का समाधान

[ले० श्री पं० जीवन्धरजी जैन न्यायतीर्थ, इन्दौर.]

मानतीय प्रोफेसर साहब ने हितेच्छु के इसी अंक में जो २० वें अंक में प्रकाशित मेरे विचारों पर कठिनाइयां उपस्थित की हैं उनका निम्न समाधान है। इस लेख में प्रो. सा. की प्रत्येक शंका को नहीं दोहरा कर उत्तर मात्र दिया जायगा, शंकायें इसके पहले पृष्ठों से जानी जा सकेंगी:—

(१) जीवकांड की गाथा ८१ से ८९ तक में जो योनिनी की व्याख्या की गई है वह जीवसमास के वर्णन में हैं। यह व्याख्या नेमिचन्द्र स्वामी के और षट्खंडागम के मनुष्यनी की जिसका उन्होंने मार्गणाधिकार में सर्वत्र प्रयोग किया है, नहीं कही जा सकती।

(२) प्रो० साहबने जो षट्खंडागम की जीवस्थान-सत्प्ररूपणा का संपादन किया है उसके मूल सूत्र नं. ९२, ९३ इस प्रकार हैं:—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥ सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजद-सम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

इनमें ५ गुणस्थान ही बतलाये हैं। आप इससे बढ़कर और क्या प्रमाण चाहते हैं!

इसके अतिरिक्त पंडित टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में २१८ वें पेज में "सो महाव्रतनि विषैं तौ बाह्य त्याग करने की ही प्रतिज्ञा करिये हैं, त्याग किये बिना महाव्रत न होय, महाव्रत विना छठा आदि गुणस्थान न होय सके तो मोक्ष कैसे होय" लिखा है। क्योंकि महाव्रत का छठे गुणस्थान से खास सबन्ध है। जब द्रव्य स्त्री के महाव्रत नहीं तो छठे गुणस्थान का निषेध स्पष्ट है।

(३) वेद के सम्बन्ध में पंचाध्यायीकार ने १०७६ वें श्लोक से १०९९ वें श्लोक तक विस्तृत रीति से वेदवैषम्य का वर्णन कियाहै। देखिये—**कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च। तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥ १०९३**

कोई भी द्रव्य स्त्री उत्कृष्ट से उत्कृष्ट नियम व्रतादि द्वारा (आर्यिका पदवाली) सोलहवें स्वर्ग से आगे नहीं उत्पन्न होती (तत्त्वार्थराजवार्तिक अ. ४ पृ. १६९)। इसी तरह नीचे भी छठी पृथ्वी तक जाती है (तत्त्वार्थराजवा. अ. ३ पृ. ११८) इससे यह स्फुट है कि वह मुनिपद नहीं पा सकती। बिना मुनि हुए ग्रैवेयका-

दिक में जाना संभव नहीं सो यह तत्वार्थराजवा. अ. ४ पृ. १६९ से प्रकट है।

(क) यह तो मानी हुई बात है कि शरीर के निर्माण में नामकर्म स्वतन्त्र है और वह शरीर व आंगोपांगों का निर्माण करता है। साथ ही मोहनीय कर्म भी उदय में निरन्तर रहता है, इसकी परिणति औदयिक भाव रूप से हुआ करती है तब वह नामकर्म से प्राप्त शरीर भी वैसी क्रियाओं का साधक माना गया है। चूंकि मोहनीय घाति कर्म है, बलिष्ठ है, इसलिये यह परिणति ही द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप सामग्रीके साहित्यको समता व विषमताकी प्रयोजक बन जाती है। द्रव्यवेद व भाववेद दोनों भिन्न कर्मों के कार्य होने पर भी परस्पर के साहचर्य से एक शरीरवाले जीव के आश्रित हैं, इसलिये परस्परमें साध्य-साधक सम्बन्ध है ही। परन्तु वह समान रूप ही हमेशा रहे, विषम न हो, इसमें प्रोफेसर साहब का तर्क उनकी वेद-नियति का समर्थक नहीं हो सकता। यदि द्रव्य व भाव एक ही कर्म का कार्य होता तो विवश हो सकते थे। साध्य-साधक भाव में साधक अनियत कारण है—जैसे कुलालचक्र में क्रिया किसी खास खैर काष्ठ से ही होवे अन्य काष्ठ दंड से न हो, यह नियम नहीं हो सकता इसी प्रकार वेदवैषम्य व समत्व का सम्बन्ध है। पंचाध्यायीकार ने भी यह विषय खुलासा लिखा है। देखिये पंचाध्यायी अध्याय २ श्लोक १०७६ से १०९९ तक।

(ख) इस तुलना का हमारा अभिप्राय यह है कि लेश्या भी औदयिक भाव है और वेद भी औदयिक भाव है, यदि लेश्या की समानता उसमें न होती तो क्षायोपशमिक भाव में पाठ होना

अनिवार्य होता परन्तु सर्व शास्त्रकारों ने वेद को औदयिक भाव माना है। वह वेद किसी खास अवयव विशेष से सम्बन्ध रखता है, यह आपकी कल्पना है। क्या आप औदयिक भाव का उदाहरण बता सकते हैं, कि आत्मा के किन प्रदेशों में उनका उदय शास्त्र-कारों ने बताया है ? जब कि क्षायोपशमिक इन्द्रियों के आत्मप्रदेश घनाङ्गुल के असंख्यात भागादि रूप परिगणित कर दिये हैं।

(ग) क्षायोपशमिक भावों के लिये अन्तरंग कारणकलाप औदयिक भावों से विचित्र ही हैं, जिससे कि उनमें विषमता नहीं होती है और औदयिक भावों में दोनों व्यवस्था में लेश्या समान मानी जाना उचित पंचाध्यायीकारने स्फुट लिखी है।

(घ) गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा नं. ३८८ में यह लिखा है कि नपुन्सक वेद के उदय में श्रेणी माड़ने पर पहिले स्त्री वेदका क्षय होता है सो स्त्री तो नपुन्सक वेदवाली हो नहीं सकती (गो. गा. नं. २०१) सिर्फ पुरुष रह जाता है। आपकी मान्यता के आधार पर तो वही नपुन्सक होता होगा तब भाववेद बदलता है यह प्रामाणिक बात है या नहीं ?

४—(क) मैंने जो बात लिखी वह औदयिक भावको लक्ष्य रखकर लिखी है, चूंकि भाववेद व द्रव्यवेद से सहचर होने वाली कतिपय बातें उन वेदोंके सद्भावकी अनुमापक हैं। मैं यह नहीं दिखाना चाहता कि वे अवयव मनुष्य नपुंसक, पुरुष, स्त्रीके व तिर्यं-चोंके समान ही होते हैं। परन्तु जो भी अवयव न्यून व अधिक हैं वे सब पुंस्त्व, स्त्रीत्व व नपुंसकत्व के साथ ही शरीर की योग्यता व

अयोग्यता से प्रगट हैं। आपने द्रव्यस्त्री के योनि व द्रव्यपुरुष के मेहन तो बतलाया, परंतु किसी न्यूनता से मनुष्य नपुंसक बन जाता है वही अपूर्णता हमारी समझ में स्फुट नपुन्सक वेद है जिसे आप कर्म सिद्धांत के बाहर ठहराना चाहते हैं। नपुन्सक के संबन्धमें **णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो** (जीवकांड) इत्यादि अनेक ग्रन्थोंमें लिखा है। वही न्यून उपांगवाला व्यक्ति नपुंसक है जो पुरुष के समान प्रवीचार (मैथुन) नहीं कर सकता, परन्तु प्रवीचार की तीव्र भावना से कुकर्म करता है, यह प्रत्यक्ष देख कर भी प्रो. साहब को नपुन्सक वेद का अस्तित्व क्यों नहीं जँचता ! फिर 'स्त्री-पुं-नपुंसकवेदाः' यह पृथक् पृथक् कर्मप्रकृतियां क्यों गिनाई जाती हैं !

(ख) मैंने यह बात ऊपर स्फुट कर दी कि वेद का उदय लेश्याओं के समान अनियत अवयवोंमें है। यद्यपि प्रकट में योनि मेहनादि ही कामवासना को तृप्त करते हैं, तथापि कामसेवन के समय शरीर मात्र के स्पर्श के भावों में मुखचुंबनादिक, जो काम वासना जनित हो, पवित्र अनुराग से न हो; कुचमर्दनादि क्रिया अथवा हाव-भाव कटाक्ष वगैरह जो मैथुन की लालसा से हों, कला की दृष्टि से नहीं, गर्भित हैं, जिन्हें प्रो. साहब क्षयोपशम भाव की तुलना रखकर भूल जाते हैं। ये सर्वांगीण विकार हैं और वेद के प्रभाव जनित हैं। देखिये तत्वार्थसूत्र के "**कायप्रवीचारा आ ऐशानात्। शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रवीचाराः**" दोनों सूत्र। यह कामवासना या तज्जनित क्रियायें किन किन अवयवों से होती हैं !

इसी प्रकार कभी कभी मैथुनाभिलाषा से गाय का बैल पर आरोहण और दुराचारी लड़कों का परस्पर मैथुन कर्म आदि बहुतसे

द्रव्य-भाव की विषमता के उदाहरण हैं जहां भिन्न द्रव्य वेद से भिन्न भाव वेद उदय में आता हैं। प्राणियों की कामचेष्टाएं नाना प्रकार की शास्त्रकारों के ध्यान में होने से '**पायेण समा कहिं विसमा**' लिखा गया है।

(ग) द्रव्यवेद की रचना अंगोपांग नामकर्म के उदय से होती है यह जीवकांड और पंचाध्यायीकार ने लिखा है। किन्तु शरीर एवं अंगोपांग नाम कर्म की उत्तरोत्तर प्रकृतियां परिगणित नहीं हैं, इसमें हानि की क्या बात है! मेरे लिखने का यह आशय था कि मोक्ष जानेवाला जीव द्रव्यस्त्री में पैदा नहीं होता, अर्थात् द्रव्यस्त्री उसी भवमें मोक्ष नहीं जा सकती।

५-(क) प्रमाणता के लिए क्या प्राचीनता भी कोई आवश्यक बात है! इस तरह तो आचार्यों की बात ही क्या तीर्थंकरों में भी लागू करके सब कुछ अमान्य ठहराया जा सकेगा। कर्मकांड में १४८ प्रकृतियों के वर्णन में क्रमवार संहनन के प्रकरण में ही गाथा २९ से ३२ तक संहनन का उचित और विशेष वर्णन किया गया है, ग्रंथकार जो अन्य आवश्यक नियम बतलाना चाहता है प्रकरण के साथ ही लिख देता है इसमें अनुचित क्या है!

आगे कर्मोदय प्रकरण की गाथा ३०१ में मनुष्यनी के उदय योग्य ९६ प्रकृतियां कही हैं, उनमें छहों संहननों का उदय स्वीकार करने का तात्पर्य यही है कि वे मनुष्यनी—भावस्त्री की अपेक्षा से हैं, न कि द्रव्यस्त्री की ही।

(ख) जिस शास्त्र के आधार पर बंध-मोक्ष की व्यवस्था है, उसमें स्पष्ट रूप से कर्मभूमिज स्त्रियों के वज्रवृषभनाराचसंहनन का विरोध कंठोक्त है, जैसा कि कर्मकांड गाथा नं. ३२ में लिखा है। रही भोगभूमिज महिलाएं व तिर्यंचणी, सो मोक्ष की कथा में वे उपयोगी नहीं हैं। मेरा तो सम्बन्ध अभी उन्हीं से है जिन्हें (कर्मभूमिजों) मोक्ष की पात्रता आती है व मान्य है। कर्मकांड गाथा नं. २६८ में ७ वें गुणस्थान में अन्तिम ३ संहननों की व्युच्छित्ति बतलाई है जिस से वे द्रव्य स्त्रियां (कर्मभूमिज) जिन्हें आदि के ३ संहनन नहीं होते हैं, श्रेणी माडने की पात्रता नहा रखती हैं। इसलिए द्रव्यपुरुष ही स्त्रीवेद से क्षपकश्रेणी माड़ते हैं यह निश्चित होगया। बिना आदि के संहननों के श्रेणी नहीं मांडी जा सकती। और स्त्रियों के वे होते नहीं। सप्तम गुणस्थान से ऊपर के जीवों के आदि के तीन संहनन ही पाये जाते हैं।

प्रोफेसर सा. एक तरफ अपने विचारों का पोषक सिद्धांत तो सिद्धांतान्तर्गत ठहराते हैं और उसी में लिखे हुए अन्य गाथाओं व मान्यताओं को इतिहास की कसौटी का डर बतलाते हैं। तब अवश्य विचारणीय विषय हो जाता है। (खं. जै. हि. ईंदौर, वर्ष २४, ता. १ अक्टूबर, १९४४)।

५

पं० जीवन्धरजी के समाधान का समीक्षण

[लेखक—प्रो० हीरालालजी नागपूर]

खंडेलवाल जैन हितेच्छु के वर्ष २४ अंक २३ में पं. जीवन्धरजी शास्त्रीने जो उसी अंकमें प्रकाशित मेरी कुछ कठिनाइयों का समाधान किया है उस परसे पुनः निम्न कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। पंडितजी इनका भी समाधान करने की कृपा करें—

(१) आपने कहा है कि जीवसमास प्रकरण में योनि की जो व्याख्या की गई है "वह व्याख्या नेमिचन्द्र स्वामी के षट्खंडागमके मनुष्यनी की, जिसका उन्होंने मार्गणाधिकारमें सर्वत्र प्रयोग किया है, नहीं कही जा सकती"। क्या इस अस्वीकार का यह अभिप्राय है कि जीवसमास प्रकरण नेमिचन्द्र स्वामी का बनाया हुआ नहीं है ? या वह जीवकांड का भाग नहीं है ? अथवा जीवकांडकी बीस प्ररूपणाओं में वह सम्बद्ध नहीं है ? जीवसमास प्रकरण की केवल यह योनिनी सम्बन्धी व्याख्या ही मार्गणाधिकार में लागू नहीं है, या कोई और भी ऐसी गैर लागू व्याख्याएं उस प्रकरण में पाई जाती हैं ? कृपया यह भी बतलावें कि वे गैर लागू व्याख्याएं कहां सार्थक होती हैं ? फिर सभी टीकाकारोंने जो मार्गणाधिकार के भीतर भी गति और वेद मार्गणाओं में योनिनी और मनुष्यनी का द्रव्यस्त्री अर्थ किया है उसका क्या अभिप्राय है ? यह

शंका मैंने पहले भी उपस्थित की थी, किन्तु पंडितजीने अपने उत्तरमें उसपर कोई ध्यान नहीं दिया। अब अवश्य ध्यान देनेकी कृपा करें।

(२) पंडितजीने स्त्रियोंमें केवल पांच ही गुणस्थानोंके प्रमाण में षट्खंडागम—जीवस्थान की सत्प्ररूपणाके सूत्र ९२ और ९३ प्रस्तुत किये हैं। इन सूत्रोंमें पंडितजी द्रव्यस्त्री की अपेक्षासे विधान मानते हैं या भावस्त्री की? यदि यहां द्रव्यस्त्री की अपेक्षा विधान है तो आपके यह कहनेका क्या अभिप्राय है कि जीवसमास प्रकरण की व्याख्या षट्खंडागमकार को इष्ट नहीं है? यदि यहां भावस्त्रीकी अपेक्षासे विधान है तो भावस्त्रीके चौदह गुणस्थान होते हैं या केवल पांच ही?

पंडितजीने द्रव्यस्त्रीके महाव्रतके निषेधके समर्थन में नेमिचन्द्राचार्य के ग्रंथोंका कोई अवतरण न देकर पं. टोडरमलजीके मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक का अवतरण दिया है। किन्तु पं. टोडरमलजीने अपनी गोम्मटसार टीकामें जो योनिनी और मनुष्यनीका द्रव्यस्त्री अर्थ किया है और गोम्मटसारकारने मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थान कहे हैं उसका क्या अभिप्राय है?

(३) पंडितजी स्वीकार करते हैं कि अंगोपांग निर्माण में मोहनीय कर्म निरन्तर उदय में बना रहता है और वह घाति कर्म होनेसे बलिष्ठ है। अतएव द्रव्यवेद व भाववेद दोनों भिन्न कर्मोंके कार्य होनेपर भी परस्पर साहचर्यसे उनमें साध्य-साधक सम्बन्ध है। ऐसी अवस्थामें फिर साध्य और साधकके बीच वैषम्य उत्पन्न करनेवाली कौनसी विरोधक प्रकृति है, यह स्पष्ट करें। पंडितजीने जो

कुलालचक्रको घुमाने में दण्डेका उदाहरण दिया है और दण्डेकी लकड़ी भिन्न भिन्न जातिकी होने पर भी एक ही कार्यका उसे कारण कहा है उससे तो वेदवैषम्यकी पुष्टि न होकर वेदसाम्यका ही समर्थन होता है; क्योंकि जैसे दण्डेकी लकड़ी भिन्न भिन्न जातिकी होने पर भी उसमें दण्डाकार समान रूपसे विद्यमान होता है, तभी वह अपना कार्य कर पाता है, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार शरीर चाहे जिस जातिका हो सकता है मनुष्य, तिर्यंच या देव अथवा औदारिक, वैक्रियिक व आहारक इत्यादि। किन्तु उसमें पुंवेदादिको उदयमें लानेके लिये पुरुषाकारादिरूपसे ही पुद्गल रचना की आवश्यकता होगी। अतएव इस उदाहरणसे पंचाध्यायी-कारके वेदवैषम्य सम्बन्धी वक्तव्यों की पुष्टि नहीं होती, किन्तु उससे विपरीत बात ही सिद्ध होती है। चूंकि इस विषय में पंडित-जीने कुछ प्रश्न मुझपर डाले हैं, एवं मेरे कथनोंको मेरी कल्पना कहा है, अतएव द्रव्य और भाववेद सम्बन्धी कुछ प्रामाणिक आगम-वाक्य और शास्त्रीय व्यवस्थाएं उपस्थित कर देना यहां आवश्यक प्रतीत होता है।

पहले तत्वार्थसूत्र अध्याय २ के सूत्र ५२ की सर्वार्थसिद्धि टीका देखिये जहां योनिको स्त्री द्रव्यलिंग एवं मेहनको पुरुष द्रव्य-लिंग माना गया है और उनका भाववेदोंसे सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित किया गया है—

'स्त्रीवेदोदयात् स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री। पुंवेदोदयात् सूते जनयति अपत्यमिति पुमान्। नपुंसकवेदोदयात् तदु-भयशक्तिविकलं नपुंसकम्।'

यहां स्त्रीवेदका गर्भसे, पुंवेदका प्रजननसे, और नपुंसकवेदका उभयशक्ति विकलत्वसे कितने स्पष्ट और निस्संदेहात्मक शब्दोंमें कारण-कार्य सम्बन्ध व्यक्त किया गया है। यही व्यवस्था ठीक इन्हीं शब्दोंमें राजवार्तिककारने स्वीकार की है। श्लोकवार्तिककारने यही बात कुछ दूसरे प्रकारसे किन्तु और भी स्पष्टतासे बतलाई है। यथा—

स्त्रीवेदोदयादिः स्त्रीवेदस्य हेतुः, पुंवेदोदयादिः पुंवेदस्य, नपुंसकवेदोदयादिः नपुंसकवेदस्येति। तत एव प्राणिनां स्त्रीलिंगादित्रयसिद्धिः।

यहां स्पष्टतः यह बतलाया गया है कि स्त्रीवेदोदयसे स्त्री-वेदकी उत्पत्ति होती है और उसीसे प्राणियोंमें स्त्रीलिंग उत्पन्न होता है। पुरुषवेदोदयसे पुंवेदकी और उसीसे प्राणियोंके पुल्लिंगकी उत्पत्ति होती है। एवं नपुंसकवेदके उदयसे नपुंसकवेदकी और उससे प्राणियोंमें नपुंसक लिंगकी उत्पत्ति होती है।

गर्भाशयका स्त्रीवेदसे और नपुंसकवेदका उसके अभावसे कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसको समझनेके लिये षट्खंडागम जीव-ट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके सूत्र १०६ की टीकापर ध्यान दीजिये। यहां एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तक तिर्यंचोंमें केवल नपुंसकवेदका विधान देखकर शंका उठ खड़ी हुई कि '**पिपीलिकानामण्ड-दर्शनान्न ते नपुंसकाः**' अर्थात् चींटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, अतएव वे नपुंसक नहीं हो सकतीं? इसपर धवलाकार उत्तर देते हैं—

इति चेन्न, अण्डानां गर्भे एवोत्पत्तिरिति नियमाभावात्।

अर्थात् उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अंडे गर्भसे ही उत्पन्न हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। अभिप्राय यह कि यदि

चींटियोंके गर्भसे अण्डोंकी उत्पत्ति मानली जाय तब फिर उनमें स्त्रीवेदका उदय मानना अनिवार्य हो जावेगा। अतएव आचार्यको उनके नपुंसकवेदोदयकी मान्यता सिद्ध करनेके लिये गर्भके अभावका और अण्डोंके किसी अन्य प्रकार उत्पन्न होनेका विधान करना पड़ा। यदि किसी भी द्रव्यशरीरमें किसी भी भाववेदके उदयकी व्यवस्था बन सकती, तो वीरसेनाचार्यको चींटियोंमें गर्भके अभाव और अण्डेके किसी अन्य प्रकारसे उत्पत्ति होनेकी युक्तिका आश्रय न लेना पड़ता। उपर्युक्त प्रसंगमें ही एक और शंका-समाधान ऐसा पड़ा हुआ है जिससे वेदोदयके लिये योग्य शरीरका होना अनिवार्य सिद्ध हो जाता है। प्रश्न उठता है कि विग्रहगतिमें शरीरका अभाव होनेसे वेदका उदय किस प्रकार हो सकेगा? इसका आचार्य उत्तर देते हैं कि विग्रहगतिमें वेदका अव्यक्त सत्व रहता है जिससे उसका अभाव नहीं कहा जा सकता—'**विग्रहगतौ न वेदाभावस्तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात्।**

अगले सूत्र १०७ की टीकामें वीरसेनाचार्यने दो और बातोंका स्पष्टरूपसे निराकरण कर दिया है—एक तो एक साथ अनेक वेदों की सम्भावना का, और दूसरे एक ही पर्यायमें वेदके परिवर्तनकी सम्भावनाका। वे कहते हैं—

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण, पर्यायत्वात्। कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदाः, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्।

अर्थात् तीनों वेदोंकी साथ साथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्रमसे ही होगी, क्योंकि वे पर्यायें हैं जो क्रमभावी ही होती हैं।

इसपर स्वभावतः यह कल्पना हो सकती है कि एक साथ न सही किन्तु एकके पश्चात् दूसरे वेदके एक जीवनमें ही कषायोंके समान परिवर्तन होनेमें क्या हानि है। इसपर आचार्य शास्त्रका नियम बतलाते हैं कि जैसे कषायें जीवनमें बदलती रहती हैं वैसे वेद नहीं बदल सकता। जन्मसे लगाकर मरण पर्यंत एक ही वेदका उदय हो सकता है। यही बात अमितगतिने अपने पंचसंग्रहमें इस प्रकार प्रकट कही है—

नान्तर्मौहूर्तिका वेदास्ततः सन्ति कषायवत्।
आजन्ममृत्युतस्तेषामुदयो दृश्यते यतः॥ १, १९१.

भाववेदके एक ही पर्यायमें अपरिवर्तनीय होनेका यही नियम वेदोंकी कालसम्बन्धी प्ररूपणापर ध्यान देनेसे और उनकी मन-वचन-योग व कषायादिकी कालप्ररूपणासे तुलना करनेपर और भी सुस्पष्ट हो जाता है। यहां मैं केवल एक ही उदाहरण प्रस्तुत करता हूं। क्रोधकषायी मिथ्यादृष्टि जीवका जघन्य काल एक समय मात्र बतलाया गया है और वह भी अनेक प्रकारसे— कषायपरिवर्तनद्वारा, गुणस्थानपरिवर्तनद्वारा व मरणद्वारा। किन्तु स्त्रीवेदी आदि मिथ्यादृष्टि जीवका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्रतिपादित किया गया है और वह भी केवल गुणस्थानपरिवर्तनद्वारा। यदि एक ही भवमें किसी एक भी जीवके वेदपरिवर्तन संभव होता, तो कषायोंके समान वेदका भी जघन्य काल एक समय प्राप्त हो सकता था और वह भी चाहे गुणस्थानपरिवर्तनसे और चाहे वेदपरिवर्तनसे। किन्तु वैसी सैद्धान्तिक मान्यता नहीं है। वेदकी कालप्ररूपणा इन्द्रियोंकी प्ररूपणासे समता रखती है। पर लेश्याओंकी प्ररूपणा-

से वह सर्वथा भिन्न है, क्योंकि लेश्याओंमें लेश्यापरिवर्तनसे प्ररूपणा की गई है जो वेदोंमें असम्भव है। इससे निश्चयरूपसे सिद्ध होता है कि एक जीवनमें वेदपरिवर्तन जैनसिद्धान्तमें अमान्य है। (देखो सर्वार्थसिद्धि पृ. ३९, ४०; षट्खंडागम पुस्तक ४ पृ. ४४४).

शरीरकी उत्पत्तिमें जीवविपाकी कर्मकी प्रधानता इसी बातसे स्पष्ट है कि भिन्न भिन्न जातिके शरीर तत्सम्बन्धी जीवविपाकी प्रकृतियोंके नामोंसे ही प्रसिद्ध हैं, न कि पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के नामोंसे। उदाहरणार्थ स्थावरकाय, त्रसकाय, सूक्ष्मकाय, बादरकाय आदि। धवलाकारके सन्मुख जीवट्ठाण-सत्प्ररूपणाके सूत्र ३९ की व्याख्या करते समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब पुद्गलोंके पिण्डका नाम काय है, तब जीवविपाकी त्रसनामकर्मोदय से त्रस काय होता है, ऐसा क्यों कहा जाय? इसका आचार्यने यह समाधान किया है कि पुद्गलविपाकी औदारिकशरीर नामकर्मका उदय जीवविपाकी त्रसनामकर्मका सहकारी है, अतएव तज्जनित पुद्गलपिंडको भी उपचारसे त्रसकाय ही कहना उचित है— **आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः इत्यनेनेदं व्याख्यानं विरुद्ध्यत इति चेन्न, जीवविपाकित्रस-पृथिवीकायिकादिकर्मोदयसहकार्यौदारिकशरीरोदयजनितशरीरस्यापि उपचारतस्तद्व्यपदेशार्हत्वाविरोधात्।** (पु. १ पृ. २६६)

इसी प्रकार अन्य सब जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयमें आनुषंगिकता पाई जाती है। जो नारक, तिर्यंच, मनुष्य या देव आयु बंधेगी उसीके अनुसार गतिनाम कर्म उदयमें आवेगा और तदनुकूल ही औदारिक वैक्रियिकादि शरीरनामकर्मका

उदय होगा। यह नहीं हो सकता कि नरक या देव गतिके साथ औदारिकशरीर उदयमें आ जावे, या तिर्यंच व मनुष्य गतिके साथ भवप्रत्यय वैक्रियिकशरीरका। जितनी इन्द्रियोंका ज्ञानावरणीय क्षयोपशम होगा, उसी अनुसार जाति नामकर्म उदयमें आवेगा और तदनुकूल ही शरीर व अंगोपांग नामकर्म अपना काम करेगा। जितने प्रकारसे जीवोंके सदृश परिणाम होंगे, उतनी ही उनकी जातियाँ होंगी, और उन उन जातियोंके जो जैसे संस्थानादि प्रतिनियत हैं उसी अनुसार शरीर व अंगोपांगकी आकार व परिणाम रूपसे पुद्गलरचना निर्माण नामकर्म द्वारा होगी। इस व्यवस्थाको समझनेके लिये जीवट्ठाणकी प्रथम चूलिका के २७ वें सूत्रकी टीका देखिये (पुस्तक ६ पृ. ५१ आदि)। यदि जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी कर्मोंमें परस्पर सहकारिता और अनुकूलता न होती तो उन उन जीवविपाकी कर्मोंके समान पुद्गलविपाकी कर्मोंकी भी उत्तर प्रकृतियां गिनाई जातीं और उनके अन्योन्य निरपेक्ष भावसे उदयमें आनेके कारण समस्त जीव जगत् में वैषम्य ही वैषम्य दिखाई देता। पर ऐसा नहीं है। अतएव वेदोदयसे जीवोंके जो सदृश परिणाम उत्पन्न होते हैं उनके अनुसार ही गतियोंमें यथायोग्य पुरुष, स्त्री व नपुंसकरूप शरीर रचना होती है जो भाववेदानुसार ही औपचारिक नामसे जानी जाती है। अतएव उसमें वैषम्यकी गुंजाइश नहीं है। भाव चाहे क्षायोपशमिक हो ,और चाहे औदयिक, किन्तु जीवपरिणाम होनेसे जातित्वकी अपेक्षा एवं तदनुसार शरीर व अंगोपांग निर्माणादिकी अपेक्षा उनकी आनुषंगिक व्यवस्थामें कोई भेद नहीं पड़ता।

यह बात इसीसे स्पष्ट है कि जैसे चक्षु आदि उपांगोंको ज्ञानेन्द्रिय कहा है, वैसे ही वाक्, पाणि, पाद, पायु व उपस्थादिको कर्मेन्द्रिय। ये कर्मेन्द्रियां स्पर्शेन्द्रियके ही प्रकार हैं जो विशेष अवयवोंमें प्रकट होते हैं, जैसा कि श्लोकवार्तिककारने स्पष्ट कर दिया है —

" **वाक्पाणिपादपायूपस्थानां कर्मेन्द्रियत्वान्न पंचैवे-त्यप्ययुक्तं, तेषां स्पर्शनान्तर्भावात्, तत्रानन्तर्भावेऽतिप्रसंगात्** "। (त. श्लो. वा. २, १५)

सभी द्रव्येन्द्रियां अपनी अपनी भावेन्द्रियसे ही उत्पन्न होती हैं, जैसा कि '**निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्**' और '**लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्**' इन तत्त्वार्थसूत्रोंके टीकाकारोंने स्पष्ट विधान करके बतलाया है। धवलाकारके सन्मुख जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भावेन्द्रियां न रहनेपर भी केवलीमें पंचेन्द्रियत्व कैसे कहा गया है? तब उन्होंने उसका समाधान किया है कि '**भावेन्द्रिय-जनितद्रव्येन्द्रियसत्वापेक्षया पंचेन्द्रियत्वप्रतिपादनात्**' (पु. १ पृ. २६३)। अर्थात् भावेन्द्रियसे उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियके सद्भाव-की अपेक्षा केवलीके पंचेन्द्रियत्वका प्रतिपादन किया गया है। अतएव जैसे स्पर्शज्ञानावरणीयके क्षयोपशमको स्पर्शभावेन्द्रिय माना गया है, और उसीसे स्पर्शज्ञानसम्बन्धी द्रव्येन्द्रिय उत्पन्न होती है उसी प्रकार स्त्रीवेदोदयको उपस्थरूप कर्मेन्द्रियका जनक भावकर्मेन्द्रिय मानना पड़ेगा और पुंवेदोदयको पुरुष उपस्थरूप द्रव्यकर्मेन्द्रियका जनक भावकर्मेन्द्रिय। इनमें व्यत्यय मानना कर्मसिद्धान्तसम्मत नहीं ठहरता।

भाव और द्रव्यवेदकी आनुषंगिकताका ठीक यही नियम गोम्मटसारकारने कर्मकाण्डकी गाथा ७६ में प्रकट किया है जहां

कहा गया है कि—

थीपुंसंढसरीरं ताणं णोकम्म दव्वकम्मं तु ।

इसकी टीका करते हुए जीवप्रबोधिनीकार कहते हैं—

'स्त्री-पुंवेदयोः स्त्री-पुंशरीरं नोकर्म द्रव्यकर्म भवति । नपुंसकवेदस्य तद्द्वयं नपुंसकशरीरं च ।

अर्थात् स्त्रीवेदका नोकर्म द्रव्यकर्म अर्थात् उदयमें लाने योग्य सहायक स्त्रीशरीर होता है । पुरुषवेदके उदय योग्य पुरुषशरीर ही होता है, एवं नपुंसकवेदके उदय योग्य स्त्रीशरीर या पुरुषशरीर दोनों अथवा तीसरा नपुंसकशरीर भी होता है ।

इस परसे द्रव्य और भाववेदोंकी यह व्यवस्था निकलती है कि स्त्रीशरीरमें स्त्रीवेद या नपुंसक वेदका उदय हो सकता है, किन्तु पुरुषवेदका नहीं । पुरुषशरीरमें पुंवेद या नपुंसकवेदका, पर स्त्रीवेदका नहीं, एवं नपुंसकवेदका उदय स्त्रीशरीरमें भी हो सकता है, पुरुषशरीर में भी और नारकी तथा विकलेन्द्रिय तिर्यंचोंके नपुंसकशरीरमें भी । इसी व्यवस्थानुसार जीवकांडकी गाथा २७१ का अर्थ करनेपर यह अभिप्राय निकलता है कि प्रायः तो द्रव्य और भाव वेद सम ही होते हैं, जैसे स्त्रीके स्त्रीवेद, पुरुषके पुरुषवेद और नपुंसकशरीरके नपुंसकवेद । किन्तु कहीं विषम भी होते हैं, जैसे स्त्रीशरीरमें या पुरुषशरीरमें भी नपुंसकवेदका उदय । यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब भाववेदानुसार ही द्रव्यवेद की रचनाका नियम है तब नपुंसकवेदके उदयमें स्त्री या पुरुषशरीर की रचना कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मनुष्य जाति की जो शरीर रचना नियत है उसमें द्रव्यपुरुष और द्रव्यस्त्रीका ही

विधान है। एवं उन उपांगोंसे अन्य शारीरिक क्रियाएं भी होती हैं। अतएव उभय लिंगोंमेंसे नपुंसकवेदीके जिस ओर अधिक तीव्रता होगी उसी रूप पुद्गलरचना होकर भी उसमें कुछ त्रुटि रह जायगी। वेदोंकी यह आनुषंगिक व्यवस्था जीवकांडके तीनों टीका-कारोंने सकारण सैद्धान्तिक रूपसे समझाई है। यथा——

पुंवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्तांगोपांगनाम-कर्मोदय-वशेन श्मश्रु-कूर्च-शिश्नादिलिंगांकितशरीरविशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यपुरुषो भवति। स्त्रीवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्तांगोपांगनाम-कर्मोदयेन निर्लोममुख-स्तन-योन्यादिलिंगलक्षितशरीरयुक्तो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यस्त्री भवति। नपुंसकवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्तांगोपांगनाम-कर्मोदयेन उभयलिंगव्यतिरिक्तदेहांकितो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यनपुंसकजीवो भवति।

इस व्याख्यानमें भाववेदोदयानुसार ही निर्माण और अंगो-पांगनामकर्मोदयजनित द्रव्य शरीरकी उत्पत्ति और जीवन भर उनमें एक रूपताका स्पष्ट विधान किया गया है जो पूर्वोक्त समस्त आगम परम्परा और शास्त्रीय व्यवस्थाके अनुकूल है। पर आगे चलकर टीकाकारने जो गाथान्तर्गत क्वचित् विषमत्वके विधानका स्पष्टीकरण किया है वह ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं कि उक्त व्यवस्था होने पर भी जो परमागममें तीनों वेदोंसे क्षपक श्रेणी चढ़नेका विधान किया गया है, इस कारण द्रव्यपुरुषमें भावस्त्री आदि प्रकारसे विषमत्व मानना पड़ता है। इस व्याख्यान द्वारा टीकाकारने

एक ओर सच्ची कर्मसिद्धान्त व्यवस्था बतला दी है, और दूसरी ओर यह भी प्रकट कर दिया है कि चूंकि परमागममें स्त्री द्वारा भी क्षपक-श्रेणीके आरोहणका विधान किया गया है, जो कि हमें इष्ट नहीं है, इसलिए उक्त आपत्तिको टालनेके लिये उक्त प्रकार वेदवैषम्यका विधान करना पड़ता है। इस प्रकार साध्यको ही साधन बनाकर वेदवैषम्यकी पुष्टि की गई है जो कर्मसिद्धान्तके उपर्युक्त नियमोंसे बिलकुल सिद्ध नहीं होती।

इस प्रकार उपर्युक्त आगमवाक्यों और तदाश्रित युक्तियोंसे सिद्ध होता है कि—

(१) भवके प्रथम समयसे जिस भाववेदका उदय होता है उसीके अनुरूप द्रव्यवेद सम्बन्धी शरीररचना होती है, विपरीत रचना कदापि नहीं होती।

(२) दो वेदोंका एक साथ उदय कदापि नहीं हो सकता।

(३) एक पर्यायमें वेदका कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। जन्मसे मरणपर्यन्त एक ही वेदोदय का नियम है।

अब यहां पंडितजी की उन शेष बातों पर भी संक्षेपसे विचार कर लेना उचित होगा जो उनके लेखके खंड ३, ४ और ५ के अन्तर्गत हैं

(क) लेश्याके औदयिक भाव होनेसे उसकी वेदोंके साथ तुलना करना व्यर्थ है, क्योंकि भावलेश्या कषायोंके उदयसे ही नहीं किन्तु उनके क्षयोपशम, उपशम और क्षयसे भी होती है जैसा कि राजवार्तिक व जीवकांडमें स्पष्टतः बतलाया गया है। यथा—

भावलेश्याः कषायोदय-क्षयोपशम-प्रशम-प्रक्षय-कृताः। (त. रा. वा. ४, २२) **मोहुदय-खओवसमोवसम-खयजजीवफंदणं भावो।** (गो. जी. ५३५)।

अतएव जब लेश्याएं क्षायोपशमिक होती हैं तब क्या वे क्षायोपशमिक इन्द्रियोंकी तुलनाके योग्य हो जाती हैं? पंडितजीको यह विचार करना चाहिये कि लेश्याएं कोई पृथक् कर्म-प्रकृतियोंसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे कि तीनों वेद होते हैं। वे तो योगों और कषायोंकी तीव्रता और मन्दताके तारतम्यके छह दर्जे हैं जो जीवन भर बदलते भी रहते हैं। इसी लिये उनके संक्रमणकी भी व्यवस्था बतलाई गई है। उनके कृष्ण नीलादि नाम औपचारिक हैं, और उनका वर्ण नामकर्मजन्य रंगोंसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसी लिये उनके साथ साथ द्रव्य लेश्याओंकी व्यवस्था सर्वत्र अलग बतलाई जाती है। कितनी ही द्रव्यलेश्याएं ऐसी हैं जिनका भावलेश्याओंमें कोई स्थान नहीं है। जैसे जघन्य भोगभूमिवालोंका वर्ण हरित होता है (गो. जी. ४९५) व वायुकाय जीवोंका वर्ण गोमूत्र, मूंग समान व अव्यक्त होता है (गो. जी. ४९६)। इनकी समतौल भावलेश्याओंमें नहीं बतलाई गई। यदि जिस प्रकार इन्द्रियों व वेदोंके भाव और द्रव्यमें कारण-कार्य व्यवस्था बतलाई गई है वैसी कोई आनुषंगिकता भाव और द्रव्य लेश्याओंमें हो तो पंडितजी प्रकट करें।

(ख) पंडितजी का जो यह ख्याल है कि जिस प्रकार औदयिक भाव जीवके सब प्रदेशोंमें रहता है, वैसा क्षायोपशमिक भाव न होकर वह केवल जीवके परिमित प्रदेशोंमें ही होता है,

वह उनका भ्रममात्र है। घनांगुलके असंख्यातवें भागका विधान निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रियके लिये कहा गया है, न कि लब्धिरूप क्षायोपशमिक भावके लिये। यही प्रश्न धवलाकारने षट्खंडागम-जीवट्ठाण की सत्प्ररूपणाके सूत्र ३३ के व्याख्यानमें उठाकर विस्तारसे उसका निराकरण किया है और सिद्ध करके बतलाया है कि क्षायोपशमिक भाव जीवके सर्व प्रदेशोंमें होता है, न कि परिमित प्रदेशोंमें।

(ग) कर्मकाण्डकी गाथा ३८८ में जो नपुंसक वेदके उदयसे श्रेणी चढ़नेपर पहले स्त्रीवेदके क्षयका प्रतिपादन किया गया है, वह सत्तागत स्त्रीवेदकी अपेक्षासे है, न कि उदयागत। अतएव उसके आधारसे भाववेदके परिवर्तनकी बात सिद्ध करना व्यर्थ है।

(घ) गाथा ३०१ में जो मनुष्यनीके नपुंसक वेद और पुरुष वेदके उदयका निषेध किया गया है तथा उससे ऊपर मनुष्यके स्त्रीवेदके उदयका निषेध किया गया है, उससे यदि कोई बात सिद्ध होती है तो यह कि पुरुषके स्त्रीवेद व स्त्रीके पुरुष वेदका उदय कदापि नहीं हो सकता।

(ङ) मैंने नपुंसक वेदके अभावकी बात कहीं नहीं की। मेरे कहनेका अभिप्राय तो यह है कि मनुष्य जातिमें नपुंसकवेदीका शरीर पुरुषाकार या स्त्रीआकार ही होता है और इसलिये पर्याप्तावस्थाके जाति–विभागमें मनुष्य और मनुष्यनी ये दो ही विभाग किये गये हैं। उनसे पृथक् कोई पर्याप्त द्रव्यनपुंसक नहीं होते।

(च) द्रव्यलिंगोंके अतिरिक्त जो अन्य अवयवों द्वारा कामक्रियाएं देखी जाती हैं वे यथार्थतः उसी प्रकार की हैं जैसे किसीने यदि कोई मधुर गान सुना तो उसकी आंखें भी चमक उठीं,

मुंहपर भी मुस्कराहट आगयी व अन्य अंगोंमें भी उत्तेजना या स्फूर्ति हुई । पर इसका क्या यह तात्पर्य है कि उन सब अवयवों द्वारा श्रोत्रज्ञानावरणीयके क्षयोपशमका उपयोग हो रहा है ? ये सब तो यथार्थतः मौलिक समवेदनकी प्रतिक्रियाएं मात्र हैं जो उस भावात्मक जीवके शरीर भरसे सम्बन्ध होनेके कारण उत्पन्न होती हैं। शरीरकी आसन कैसी भी हो पर अनुभव होगा पुरुषको पुंवेदका और स्त्रीको स्त्रीवेदका ही। योनिमतीका अनुभव पुरुष शरीरको किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

(छ) पहिले पंडितजीने जो यह लिखा था कि " स्त्रीवेद नामकर्म अशुभ कर्म है जिसे मोक्ष जानेवाला जीव पूर्व भवमें ही निर्जीर्ण कर देता है। " इसका उन्होंने अब यह आशय प्रकट किया है कि " मोक्ष जानेवाला जीव द्रव्य स्त्रीमें पैदा नहीं होता।" कृपया पंडितजी प्रकट करें कि यह व्यवस्था कौनसी कर्मप्रकृतिके उदय या उदयाभावादिसे फलित होती है ?

(ज) तत्त्वार्थराजवार्तिकके पृ. १६९ पर द्रव्यस्त्रियोंके सोलहवें स्वर्गसे उपर जानेके निषेधका उल्लेख मेरे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। कृपया पंडितजी उसे उद्धृत करें। उसी प्रकार उन्होंने जो यह कहा है कि " बिना मुनि हुए ग्रैवेयकादिमें जाना संभव नहीं।" सो किस आधारपर ? यथार्थतः ग्रैवेयक तक तो मिथ्यात्वी भी जा सकते हैं। हां, पृ. ११७ पर स्त्रियोंके नीचे छठी पृथ्वी तक ही जानेका विधान देखा। पर उससे उनके ऊपर लोकशिखर तक जानेकी मान्यतामें कोई विरोध नहीं आता। यदि नीचे और ऊपर

की गतिकी तरतमतामें कोई सम्बन्ध होता तो जो सरीसृप नीचे केवल दूसरी पृथ्वी तक, पक्षी तीसरी तक, उरग चौथी तक, एवं सिंह पांचवीं तक ही जाते हैं, वे सब ऊपर समान रूपसे सहस्रार व अच्युत स्वर्ग तक भी न जा सकते थे; वहां भी नीचेके समान तरतम भाव होना आवश्यक था। इसी प्रकार जो मत्स्य नीचेकी उत्कृष्ट सीमा अर्थात् सातवीं पृथ्वी तक जा सकता है वह ऊपर भी उत्कृष्ट सीमा अर्थात् सिद्धशिला तक पहुंचाया जा सकता था। किन्तु वह अच्युत स्वर्गसे आगे नहीं जा सकता। स्त्री भी जिस प्रकार नीचे मत्स्यके बराबर नहीं जा सकती, उसी प्रकार उपर भी वह अच्युत स्वर्ग तक नहीं पहुचाई जा सकती थी। पर वहां तक स्त्रीका जाना तो पंडितजी को भी मान्य है! इन वैषम्योंसे ही स्पष्ट है कि जीवोंकी नीचे और ऊपर की गतियोंके तारतम्यमें परस्पर सम्बन्ध नहीं है, एवं नीचे अधिक न जा सकना अधिक ऊपर न जा सकनेका हेतु नहीं माना जा सकता। जब स्त्रीवेदी मनुष्यनी चौदहों गुणस्थान प्राप्त करती है, तब यदि ऊपर और नीचेकी गतियोंमें तारतम्य माना जाय तो स्त्रीवेदी जीव सातवीं पृथ्वी तक भी जाते होंगे, क्या यह पंडितजी को मान्य है?

(झ) पंडितजी के लेखकी अन्तिम बातके सम्बन्ध में मेरा यह कहना है कि किसी कथनकी प्रामाणिकताके लिये आगम परम्परा और तदाश्रित युक्तियोंकी तभी आवश्यकता उत्पन्न होती है जब उसके सम्बन्धमें कोई मतभेद खड़ा हो जाता है। यों तो आप कहें सो भी प्रामाणिक और हम कहें सो भी प्रामाणिक हो सकता है। पर मतभेद उपस्थित होनेपर तो किसी कथनकी पुष्टि

आगम और युक्तिके आधारसे ही करना पडती है, नहीं तो तथ्यातथ्यका निर्णय हो कैसे ! कोई भी पाठ कहीं 'कंठोक्त' होने मात्रसे प्रमाणभूत नहीं होजाता। अतएव संहनन सम्बन्धी मान्यतापर मेरे पूर्व लेखमें जो बातें बतलाई गई हैं उनके सम्बन्धमें जब तक आप ऊहापोह पूर्वक विचार नहीं करेंगे, तब तक उस मान्यताकी दुहाई खेंचना व्यर्थ है। (खं. जै. हि. वर्ष २५ अंक ४-५, ता. १६ दिसम्बर १९४४ व १ जनवरी १९४५)

६

क्या केवली भगवान के भूख-प्यास की वेदना होती है?

[ले.— श्री. पं. जीवन्धरजी जैन न्यायतीर्थ, इन्दौर.]

उपर्युक्त विषय के संबन्ध में कर्मसिद्धान्तानुसार वेदना का अस्तित्व प्रोफेसर हीरालालजी साहब ने बताया है। परन्तु उस का विचार करने पर यह बात श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने बतलाई कि असाता की उदीरणा छठे गुणस्थान तक रहती है, आगे के गुणस्थानों में उदीरणा नहीं होती है, और भूख का कारण असाता वेदनीय की उदीरणा है, उदय नहीं। देखिये—

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए ।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥ १३४ ॥
णट्ठपमाए पढमा सण्णा ण हि तत्थ कारणाभावा ।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि ण हि कज्जे ॥ १३८ ॥

ये गाथायें श्री नेमिचन्द्रजी ने दी हैं जिनसे यह स्फुट है कि सब संज्ञाओं में उदीरणा संभव कर्मों की उदीरणा कारण है, उदय नहीं। यदि ऐसा न हो तो मोक्ष की कथा ही विडम्बना ठहरती है, क्योंकि सब प्रवृत्तियां मैथुनादि भी सातवें आठवें नवमें गुणस्थान तक होना अनिवार्य हो जावेंगी। कर्मसिद्धान्तानुसार कर्म की बंध, उदय, उदीरणादि भेद से दश दशायें बतलाई हैं जिनका कार्य भी पृथक् २ बतलाया है। कर्मकाण्ड की व्यवस्था से बहुत से कर्म प्रदेशोदय द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं। चूंकि असता वेदनीय अघाति कर्म है; उसकी सत्ता व उदय तेरहवें गुणस्थान तक बतलाई है या रहती है तब प्रदेशोदय से निर्जीर्ण होते रहने से वह बाधाओं का जनक नहीं ठरहता। फिर आपके कर्मसिद्धान्तानुसार ही वेदना होती रहती होगी। वहां अनुभागोदय न होने से दि. जैन सिद्धान्तानुसार वेदना नहीं हो सकती।

(२) आपने अपनी तर्क पद्धति से यह प्रस्तुत किया कि राजवार्तिक-कारकी विश्लेषण प्रणाली दुःखजनक भूख प्यास के अभाव को कर्म-सम्मत नहीं सिद्ध करती। इस विषय में यह विचारणीय है कि वेदनीय कर्म किस तरह जीव को सुख व दुख का अनुभव कराता है? एक मनुष्य को खाने के वास्ते मिठाई मिले। उसे खाकर वह बहुत सुखी हुआ। इसमें यह देखना है कि मिठाई का मिलना किस कर्म के उदय

से हुआ ? लाभ का प्रतिबन्धक कर्म "लाभान्तराय" है। उसके क्षयोपशम ने वह सामग्री (मिठाई) उपस्थित करा दी। खाना रूप क्रिया औदारिक काययोग ने की। वह मीठी है यह अनुभवन रसना इन्द्रियजन्य ज्ञान का कार्य है, जिसे ज्ञानावरण के क्षयोपशमका कार्य मानना होगा। उससे सुखी होना मोहनीय कर्म का कार्य है। फिर वेदनीय का कार्य सिर्फ धर्मद्रव्य व अधर्म व काल द्रव्य के समान सहायक रूप से वेदना करा देने के अतिरिक्त क्या रहता है। यह आप विश्लेषण करेंगे तो आप की दृष्टि अवश्य ही उस गहराई तक पहुंचेगी जो कि श्री राजवार्तिककार, प्रभाचन्द्राचार्य व कुन्दकुन्द स्वामी जैसे परम वीतरागी तत्वप्ररूपक पक्षपात हीन विद्वानों की सूझ से संबन्ध रखती है। वेदनीय की व्याख्या गोम्मटसार कर्मकांड में "**तं वेदयतीति वेदनीयम्**" इस रूप से णिजर्थ में की है। जैसे कि काल द्रव्य की वर्तना की व्याख्या की जाती है, उसी प्रकार वेदनीय कर्म की "वेदना" की भी व्याख्या है जो कि ग्रंथकारों को अभीष्ट थी। अब आप स्वयं सोचें कि अघाति कर्म जो कि साधारण सहायक है, वह मुख्य कर्म मोहनीय के अभाव में क्या निर्जीर्ण प्रभाव नहीं रह जाता है ? वह ऐसी दशा में केवली को दुःखानुभवन किस प्रकार करा सकता है ? इसी के समर्थन में देखिये कार्मकांड गाथा नं. १९। **घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं। इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु**॥ अर्थात् वेदनीयकर्म, मोहनीयकर्म के उदय के बल से ही जीवों का घात करता है, इसीलिए मोहकर्म के पहले इसका पाठ किया गया है। कर्मसिद्धांत के वेत्ता नेमिचन्द्राचार्य के इस कथन पर से और क्या शेष रह जाता है ?

आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी तर्क से यह स्पष्ट कर दिया कि बुभुक्षा एक कर्म का कार्य नहीं। सामग्री (अनेक कर्म) का कार्य भूख जन्य बाधा पैदा करना है। देखिये प्रमेयकमलमार्तंड ३०३ पेज (न्यू एडीशन) "**तथा असातादिवेदनीयं विद्यमानोदयमपि असति मोहनीये निःसामर्थ्यत्वान्न क्षुद्दुःखकरणे प्रभुः, सामग्रीतः कार्योत्पत्तिप्रसिद्धेः॥**"

(३) आपने इस संबन्ध में परमागम की कोई प्ररूपणा का प्रमाण नहीं दिया जिससे यह सिद्ध हो जाता कि किसी दिगंबर सिद्धान्त के आगम ने केवली को वेदना रूप में भूख प्यास का अस्तित्व स्वीकार किया है।

(४) यदि वेदनीय के उदय से दुःखवेदन और उसी समय शेष सातावेदनीय के उदय से सुखानुभवन है, तो सुख-दुःख एक ही साथ अनुभवन में आना चाहिये, इस प्रकार परस्पर विरोधी अनुभवन की संभावना रूप आपत्ति का क्या समाधान होगा!

आपने केवली को दुःख अस्तित्व प्ररूपण करने में एक देवागम स्तोत्र की कारिका अ. ९ नं. २ प्रमाण रूप में दी है उसमें वीतराग शब्द से तेरहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग का अर्थ लेना विद्यानंदी आचार्य के अभिप्राय से नहीं सिद्ध होता। उन्होंने उसी श्लोक की टीका में लिखा है "**वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेः**" इससे यह सिद्ध होता है कि दुःख की कारणभूत बाह्य सामग्री को दुःख लौकिक दृष्टि में माना जाता है जो योगानुष्ठानतत्पर मुनियों के पाया जाता है। परन्तु वहां प्रमाद न होने से वह सामग्री बन्ध जनक नहीं होती, क्योंकि उनके संक्लेश नहीं

है। यह लक्ष्यार्थ प्रकट न लेकर आप ने वीतराग सर्वज्ञ तेरहवें गुणस्थानवर्ती को लेकर दुःख का अस्तित्व बतलाया यह वाक्छल (वीतराग शब्द के आधार पर) प्रयोग किया सो ठीक नहीं।

(५) इसके आगे विचारणीय विषय यह है कि केवली का परमौदारिक शरीर माना गया है जिसमें कवलाहार की आवश्यक्ता ही नहीं रह जाती। वह शरीर दि.जैन आगम से सप्त धातु मल रहित माना गया है तथा वह निगोद जीवों से रहित माना गया है– "**पुढवीआदि-चउण्णं केवलि-आहार-देवणिरयंगा। अपदिट्ठिदा निगोदेहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा॥** (जीवकांड गाथा नं. १९९)। इसलिए वह ऐसे शरीरों में है जिन्हें कवलाहार नहीं करना पड़ता और उनकी स्थिति बहुत बड़े लम्बे समय तक बनी रहती है। उनके शरीर को पोषक तत्वों की जरूरत रहती है वह भिन्न प्रकार से मिला करते हैं। केवली के शरीर को लाभान्तराय के क्षय से अनन्त शुभ परमाणु शरीरस्थिति बनाये रखने को प्रति समय आया करते हैं। यह सब आगम व कर्म–सिद्धांत के विचारकों ने स्फुट लिखा है।

(६) क्षुधा की वेदनावाले केवलज्ञानी के अनन्त चतुष्टय नहीं रह सक्ते। कुछ क्षण भी दुःखी आत्मा अनन्त सुखवाला अनन्त वीर्यवाला अनन्तज्ञानी नहीं माना जा सक्ता। दि. जैन सिद्धान्त में केवली को अनंतचतुष्टयवाला माना है।

(७) केवलज्ञानी को शरीर के पोषण की स्पृहा न होने, आहार की बांछा न होने और चर्यामार्ग निरन्तराय न हो सकने से कवलाहार की विडम्बना रूप संभावना नहीं की जा सकती। (खं. जै. हि. वर्ष २४, अंक २४; ता. १६ अक्टूबर १९१४)

७

केवली भगवान् के भूख-प्यासादिकी वेदना

(ले०—प्रो० हीरालालजी, नागपुर)

खंडेलवाल जैन हितेच्छु के वर्ष २४ अंक २४ में पं. जीवन्धरजी का 'क्या केवली भगवान् के भूख-प्यास की वेदना होती है?' शीर्षक लेख निकला है। उसी पर यहां विचार किया जाता है।

(१) गो. जी. गाथा १३४ में असातावेदनीयकी उदीरणासे आहार संज्ञाकी उत्पत्ति कही गई है, तथा गाथा १३८ में प्रमाद नष्ट होजानेपर अर्थात् अप्रमत्तादि गुणस्थानोंमें आहार संज्ञाका अभाव कहा गया है। इन आधारों परसे पंडितजीका कथन है कि "वहां (केवलीमें) अनुभागोदय न होनेसे दि. जैन सिद्धान्तानुसार वेदना नहीं हो सकती।" यहां यह विचारणीय है कि क्या उदीरणाके अभावमें किसी कर्मोदयकी फलदायिनी शक्ति भी नष्ट हो जाती है? उदीरणाका लक्षण कर्मकाण्ड की गाथा ४३९ में इस प्रकार बतलाया गया है—

'अण्णत्थ ठियस्सुदये संथुहणमुदीरणा हु'

अर्थात् अन्य स्थितिवाले कर्मको खेंचकर उदयमें ला डालना उदीरणा कहलाती है। धवलाकारने षट्खं. पुस्तक ६ पृ. २१३ पर उदय और उदीरणाका भेद इस प्रकार बतलाया है—

'उदय-उदीरणाणं को विसेसो? उच्चदे— जे कम्मक्खंधा ओकड्डुक्कड्डुणादिपओगेण विणा ट्ठिदिक्खयं पाविदूण अप्पप्पणो फलं देंति तेसिं कम्मक्खंधाणमुदओ त्ति सण्णा। जे कम्मक्खंधा महंतेसु ट्ठिदि-अणुभागेसु अवट्ठिया ओक्कड्डिदूण फलदाइणो कीरंति, तेसिमुदीरणा त्ति सण्णा, अपक्वपाचनस्य उदीरणा-व्यपदेशात्।

अर्थात् जब कर्म अपनी स्थिति पूरी करके अपना अपना फल देते हैं तब उनका उदय कहलाता है, और जब उनकी स्थितिको अपकर्षण द्वारा फलदायी बनाया जाता है तब उनकी उदीरणा कहलाती है, जैसे विना पके फलको पका डालना। उदय व उदीरणाके इन लक्षणोंसे स्पष्ट है कि कर्मोका फल तो उनके उदयसे ही होता है, किन्तु जब वे अपनी कालमर्यादासे पूर्व ही उदयमें लाये जाते हैं तब उनकी उदीरणा कहलाती है। पर क्या अपने समयपर पके हुए फलमें गर्मी देकर जल्दी पकाए हुए फलसे रस कम हुआ करता है? कभी नहीं। यदि उदीरणाके अभावमें कर्मोदय अपना कोई फल ही न दिखा सकता, तो उदीरणाके साथ ही उदयकी भी व्युच्छित्ति क्यों नहीं कही गई? कौनसी सार्थकताके लिये वेदनीयकी उदीरणाव्युच्छित्तिके पश्चात् भी उसके कर्मोदय का विधान किया गया है? इसी अर्थापत्तिको ध्यान में रखकर गोम्मटसारके टीकाकारोंने उदीरणाके साथ उदयको भी आहार संज्ञाका कारण बतलाया है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाता तो प्रमत्त गुणस्थानमें ही असातावेदनीयके समान सातावेदनीय एवं आयुकी भी उदीरणाव्युच्छित्ति हो जानेसे व उनका उदय निष्फल होनेसे जीव

प्रमत्त गुणस्थानके अन्तमें ही सुख-दुखसे मुक्त होकर अपना शरीरान्त कर डालता। पर ऐसा नहीं होता, जिससे स्पष्ट है कि उदीरणाके अभावसे कर्मोदयकी फलदायिनी शक्ति नष्ट नहीं हो जाती।

जान पड़ता है कि इसी कारण स्वयं पंडितजीने केवलीमें वेदनाओंके अभावके लिये वेदनीय कर्मके अनुभागोदयके अभावका विधान करना आवश्यक समझा। पर केवलीके असाताके अनुभागोदयका अभाव सिद्ध नहीं होता। क्षपकके वेदनीयका स्थितिसत्त्व थोड़ा नहीं असंख्यात वर्ष प्रमाण होता है जो अपना काल पाकर क्षीणकषाय, सयोगी एवं अयोगी गुणस्थान तक अपना अनुभाग प्रकट करता ही रहता है। यदि उसका या अन्य अघातिया कर्मोंका स्थितिसत्त्व आयु प्रमाणसे अधिक हुआ तो केवलीको सयोगी गुणस्थानके अंतमें समुद्‌घात क्रिया करके उन्हें आयुप्रमाण बनाना पड़ता है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक अयोगी गुणस्थान ही प्रकट नहीं हो सकता। स्थिति कभी अनुभागके विना नहीं हुआ करती और बिना स्थिति व अनुभागके ईर्यापथिक कर्मप्रदेश बरषों तक नहीं ठहर सकते। अतएव पंडितजीका यह कहना सिद्धान्तसम्मत नहीं है कि केवलीके असातावेदनीयका अनुभागोदय नहीं होता।

(२) पंडितजीने जिस तर्कपद्धतिसे वेदनीय कर्मको धर्म, अधर्म व काल द्रव्यके समान सहायक सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह युक्तिसंगत नहीं है। पंडितजीने मनुष्यको मिठाई खिला तो दी, पर यह सोचने समझनेका प्रयत्न ही नहीं किया कि कोई मिठाई खायगा कब और क्यों ? जब तक किसीको क्षुधा नहीं होगी तबतक

मिठाई उसके किसी कामकी नहीं है। और यह क्षुधा कौन उत्पन्न करता है? वही असातावेदनीय कर्म। इस असातावेदनीय जन्य वेदनाके अभावमें यदि लाभान्तरायके क्षयोपशम या क्षयसे उसे मोदक प्राप्त भी हो गया, तो भी वह उसे खायगा नहीं। मानलो असाता वेदनीयके उदयसे भूख भी लग आई, और लाभान्तरायके क्षयोपशम या क्षयसे मोदक भी मिल गया, तो भी जब तक असातावेदनीयके उदयका अन्त न हो जायगा तब तक वह उसे खा न पायगा; कोई न कोई अन्तराय आकर खड़ा हो जायगा और यदि खा भी लेगा तो वमन हो जायगा। यदि इसका दृष्टान्त चाहिये तो धन्यकुमार मुनिका कथानक देखिये जिन्हें कर्मोदयसे या तो भिक्षा नहीं मिलती थी और यदि मिली भी तो खाते ही वमन हो जाता था (बृहत्कथाकोश, १४१, ३८–४१)। खाकर कोई स्वास्थ्यलाभ तभी कर सकता है जब उसके असातोदयका अन्त होकर साताका उदय हो जायगा। यह स्वास्थ्यरूप सुखका लाभ मोहनीय जन्य नहीं है। हां, यदि खाते समय उसकी रसनेन्द्रिय सचेत होगी तो उसे मिठासका भी अनुभव होगा। यदि मोहकर्मका उदय हुआ तो वह उसके रसास्वादकी खूब प्रशंसा कर अपनी रागपरिणति प्रकट करेगा। या यदि उसे स्वाद अच्छा नहीं लगा तो वह नाक–मुंह सिकोड़कर अपना द्वेष प्रकट करेगा। पर यदि उसकी इन्द्रियलिप्सा नष्ट हो गई है और मोहजनित राग-द्वेष भाव भी क्षीण हो गये हैं तो उसकी ये परिणतियां नहीं होंगी। तो भी उसके असातावेदनीय जन्य दुख व सातावेदनीय जन्य सुखके संवेदनमें कोई भेद नहीं पड़ेगा।

इस प्रकार यदि पंडितजी विचार कर देखेंगे तो उन्हें वेदनीय कर्मकी फलदायिनी शक्तिका अनुभव होगा और वे उसे धर्म आदि द्रव्योंके समान निष्क्रिय निमित्त नहीं, किन्तु अपनी बंध, सत्व, उदीरणा व उदयादि व्यवस्थाओं द्वारा जीवनमें अति प्रबल और महत्वपूर्ण सक्रिय साधन पायेंगे, जैसा कि कर्मसिद्धान्तके समस्त आचार्योंने उसे बतलाया है। दुःख असातावेदनीय जन्य ही है और सुख सातावेदनीय जन्य। एवं सातासे उत्पन्न सुख असाता जन्य दुःखका अविनाभावी है। इन्हींके उदयक्षयसे जीव सुख-दुख-विवर्जित हो सकता है और वह क्षीणकर्म जीवोंमें ही संभव है, केवल क्षीणकषायी जीवोंमें नहीं। इस सबका सुन्दर प्रतिपादन षट्खंडागम जीवट्ठाणकी प्रथम चूलिकाके सूत्र १८ की धवला टीकामें देखिये (पुस्तक ६, पृ. ३५ आदि)।

यदि 'वेदयतीति वेदनीयम्' इस प्रकार णिजर्थ शब्द-व्युत्पत्तिसे वेदनीय कर्म कालद्रव्यके समान हो जाता है, तो मोहनीय भी उसीके समान ही हो जायगा, क्योंकि उसकी भी तो शब्दव्युत्पत्ति 'मोहयतीति मोहनीयम्' इस प्रकार णिजर्थमें ही की गई है।

कर्मकाण्डकी गाथा १९ में जो यह कहा गया है कि वेदनीय कर्म मोहनीयके बलसे घाति कर्मके समान जीवका घात करता है वह बिलकुल ठीक है, क्योंकि वेदनीय जन्य वेदनाके साथ जब तक मोहोत्पन्न राग-द्वेषरूप तीव्र परिणाम भी रहते हैं तब तक ज्ञानादि गुणोंका पूर्ण विकास नहीं हो सकता। पर मोहनीयके अभावमें वेदनीय अपनी शुद्ध अघातिया प्रकृतिपर आ जाता है जिससे अपने उदयानुसार सुख-दुख रूप वेदना उत्पन्न करते हुए

भी वह जीवके केवलज्ञानादि गुणोंका घात नहीं करता। यह बात एक उदाहरणसे और भी स्पष्ट हो जायगी। जब वैद्य कहता है कि यदि ज्वरके साथ कफ और पसलीकी पीड़ा भी हुई तो वह ज्वर त्रिदोषात्मक होनेसे घातक हो सकता है, तो इसका क्या यह अभिप्राय होगा कि यदि कफ और पसलीकी पीडा नहीं है तो ज्वर अपना वेदनाकारी किन्तु अघातक ताप रूप फल देना भी छोड़ देता है? यथार्थतः वेदनीय कर्म अपनी फलदायिनी शक्तिमें अन्य अघातिया कर्मोंके समान सर्वथा स्वतंत्र है। यदि उसकी फलदायिनी शक्ति मोहनीय के अधीन होती तो या तो वह मोहनीय-की ही उत्तर प्रकृतियोंमें गिनाया जाता, जैसे रति-अरति आदि नोकषाय। या स्वतंत्र कर्म मानकर भी मोहनीयके ही साथ उसके उदय और क्षय होनेकी व्यवस्था कर दी जाती, जैसी ज्ञानावरणीयके साथ दर्शनावरणीयकी पाई जाती है। परन्तु कर्मसिद्धान्तके शास्त्रज्ञों को वैसा इष्ट नहीं है और वे मोहनीयको वेदनीयका सहचारी न मानकर उसका विरोधी ही बतलाते हैं। उदाहरणार्थ, तत्त्वार्थ-सूत्र ८,४ की टीका में कर्मोंके नामनिर्देश क्रमकी सार्थकता बतलाते हुए राजवार्तिककार ज्ञानावरण और दर्शनावरणका साहचर्य प्रकट करके कहते हैं—

'**तदनन्तरं वेदनावचनं, तदव्यभिचारात्** ॥ २० ॥ तदनंतरं वेदना उच्यते। कुतः? तदव्यभिचारात्। ज्ञान-दर्शनाव्यभिचारिणी हि वेदना, घटादिष्वप्रवृत्तेः। **ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात्** ॥२१॥ तत्पश्चात् मोहोऽभिधीयते। कुतः? तद्विरोधात्– तेषां ज्ञान-दर्शन-सुख-

दुःखानां विरोधात् । मूढो हि न जानति, न पश्यति, न च सुख-दुःखं वेदयते । ' इत्यादि ।

यहां राजवार्तिककारने बतला दिया है कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंके पश्चात् जो वेदनीयका उल्लेख किया गया है वह इस कारण कि वेदना ज्ञान और दर्शनकी अव्यभिचारिणी है, अर्थात् जहां ज्ञान और दर्शन पाया जायगा वहीं वेदना भी हो सकती है, और जहां उन दोनोंका अभाव है, जैसे घटादि में, वहां वेदनाका भी अभाव पाया जायगा । वेदनीयके पश्चात् जो मोहनीयका निर्देश किया गया है उसकी सार्थकता यह है कि ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःखकी वेदनासे मोहका विरोध है । मूढ जीव न जानता है, न देखता और न सुख-दुःखका वेदन करता । इसी प्रकार श्लोकवार्तिककारने भी स्वीकार किया है कि—

' तदनन्तरं वेदनीयवचनं, तदव्यभिचारात् । ततो मोहाभिधानं, तद्विरोधात् । '

राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकके इस विशद स्पष्टीकरणके प्रकाशमें यह कहना व्यर्थ है कि वेदनीयका मोहनीयके साथ साहचर्य है और ज्ञान–दर्शनसे विरोध है । यथार्थतः तो व्यवस्था इससे सर्वथा विपरीत सिद्ध होती है ।

(३) कर्मसिद्धान्तकी जो व्यवस्थाएं मैंने स्वीकार की हैं और उनके आधारसे जो बातें कहीं हैं उनका यदि परमागमकी प्ररूपणाओंसे कहीं कोई विरोध आता हो तो पंडितजी प्रकट करें, मैं उसपर गंभीरतासे विचार करूंगा । समर्थक प्रमाण यथास्थान यथावसर दिये ही जारहे हैं ।

(४) जब असाताका उदय होगा तब तज्जन्य दुःखरूप ही संवेदन होगा। और जब साताका उदय होगा तब उस दुःखरूप वेदनके उपशमन द्वारा सुखका अनुभव होगा। इस प्रकार ये दोनों परस्पर क्रमवर्ती हैं; उनका एक साथ उदय नहीं होता। अतएव परस्पर विरोधकी कोई सम्भावना नहीं है।

देवागमकी ९३वीं कारिकामें जो वीतराग विद्वान् मुनिको सुख-दुःखका अनुभव करते हुए भी पुण्य-पापके बन्धसे रहित बतलाया है, उससे केवल प्रमाद रहित साधु अर्थात् सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके कषायोदयके कारण पुण्य-पाप बन्ध होगा ही, और यही बात सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक पाई जाती है। इसीसे आचार्यने मुनिके साथ वीतराग विशेषण लगा दिया है जिसे पंडितजी निरर्थक समझ रहे हैं और उसे सार्थक बतलानेको वाक्छल कहते हैं। अब यदि वीतराग छद्मस्थ मुनिका ही ग्रहण किया जाय, तो कारिकाके 'विद्वान्' विशेषणकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती। जान पड़ता है अज्ञान सम्बन्धी मलोत्पत्तिकी सम्भावनाका भी निराकरण करनेके लिये आप्तमीमांसाकारने विद्वान् विशेषण लगाकर केवली मुनिका ही ग्रहण किया है जिनके वेदनीय जन्य सुख-दुःख होते हुए भी कर्म-प्रत्ययोंके अभावसे कोई भी कर्मबन्ध या मलोत्पत्ति शेष नहीं रही, जिससे निर्विवाद सिद्ध हो जाय कि पुण्य-पापके बन्धका ध्रुव कारण स्वतःका सुख दुःख नहीं हो सकता। अन्य किसी प्रकार अर्थ करनेसे युक्ति दूषित होकर साध्यके विपरीत ही बात सिद्ध होती है।

पंडितजीने जो विद्यानन्दि आचार्यकी टीकाका वाक्य उद्धृत किया है उससे कारिकामें केवलीका अग्रहण सिद्ध नहीं होता, क्योंकि असाता वेदनीय जन्य परीषह सब कायक्लेश ही तो हैं जो उक्त कर्मके उदयानुसार केवलीके भी होते हैं। यदि केवल प्रमादके अभावसे ही जीवके पुण्य-पाप बन्धका अभाव माना जाय तो बादर और सूक्ष्म कषायोदयवाले गुणस्थान भी अबन्धक हो जायगे। क्या कहीं ऐसी व्यवस्था पंडितजीके देखनेमें आई है? क्या कषायोदय पुण्य-पाप के बन्धका कारण नहीं होता?

(५) केवलीके जो मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, औदारिक शरीर व आंगोपांग, संहननके अतिरिक्त स्थिर व अस्थिर, शुभ और अशुभ, सुस्वर और दुःस्वर, प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, परघात व साता, असाता वेदनीयादि कर्मोंका उदय माना है उसपरसे निगोद जीवोंसे रहित होने पर भी वे अपनी शरीररचनामें मनुष्य ही सिद्ध होते हैं, अमानुषिक नहीं। ये सब कर्म भी अच्छे बुरे जैसे उन्होंने पूर्वमें बांध लिये हैं उसी अनुसार उदयमें आते रहते हैं, उनका कोई नया बन्ध या नई व्यवस्था केवलीमें नहीं हो सकती। यह बात कुछ प्रकृतियोंके स्वरूपपर विशेष ध्यान देनेसे और भी स्पष्ट हो जाती है। स्थिर व अस्थिर कर्मोदय रस, रुधिर, मांस आदि सप्त धातुओंकी स्थिरता व अस्थिरतामें व्यापार करते हैं (धवला पु. ६, पृ. ६३)। यदि केवली के रस-रुधिर आदि का अभाव हो गया होता तो कार्याभावसे उनके स्थिर अस्थिर कर्मोंका भी उदयाभाव माना जाता। पर वैसा नहीं है। उपघात कर्म जीवके पीड़ाकारी अवयव व वात, पित्त

कफ जनित पीडाएं उत्पन्न करता है (धवला पु. ६ पृ. ५९)। यदि इन दोषोंका केवलीके अभाव हो गया होता तो उनके उपघात कर्मोदयका भी क्षय माना जाता; पर माना गया है उदय, जिससे स्पष्ट है कि ये पीड़ाकारी द्रव्य उनके बने हुए हैं। उनके समचतुरस्रसे लगाकर हुंडसंस्थान तक जैसा कुछ शरीराकार पहले था वह अब भी विद्यमान है तभी तो उनके छहों संस्थानोंका उदय माना गया है। इत्यादि।

केवलीके शरीरादिकी सर्वथा मानुषिक अवस्था अन्तकृत् केवलियोंके उपसर्ग सहनके कथानकोंसे और भी स्पष्ट हो जाती है। ये केवली उपसर्गजन्य घोर शारीरिक वेदनाएं सहन करते हुए ही शरीरान्त करके मोक्ष जाते हैं। तीन ज्येष्ठ पांडवोंने तथा गजकुमारने शत्रुकृत उष्ण परीषह सहते हुए ही शरीरान्त कर मोक्ष प्राप्त किया (हरिवंश पु. ६१, ७; ६५, २०-२२) श्रीधर मुनि हेमन्त ऋतुमें शत्रुकृत शीत वायु और जलवृष्टिका असाधारण शीतपरीषह सहते हुए ही शरीरान्त कर मोक्षगामी हुए (बृहत्कथाकोश १३४)। इसी विद्युच्चर प्रकार दंशोपसर्ग सहते हुए (बृ. क. १३३), सनत्कुमार कच्छू, श्वास, ज्वरादि रूप घोर व्याधियां सहते हुए (बृ. क. १२९), धर्मघोष मुनि तीव्र पिपासाकी वेदना सहते हुए (बृ. क. १३३) ही मोक्षगामी हुए। एणिकापुत्र गंगा पार करते समय नाव भग्न हो जानेसे पानीमें डूब कर भव-समुद्रसे पार उतरे (बृ. क. १३०) अभयघोष मुनिके शत्रुने हाथ पांव काट डाले जिसकी वेदनाको सहते हुए ही वे निर्वाण को प्राप्त हुए। (बृ. क. १३७)। धन्यकुमार मुनिका सारा शरीर बाणोंसे वेधित कर दिया गया था जिसकी घोर

वेदना सहते हुए वे मोक्ष गये (बृ. क. १४१)। सुकौशल मुनिके शरीरका मांस एक व्याघ्रीने खाना शुरु कर दिया जिसकी यातनाको सहते हुए ही मुनिराज की मुक्ति हुई। (बृ. क. १५२) इत्यादि। क्या इन मुनियों के सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि उन्हें केवली अवस्थामें कोई परीषह नहीं हुए? या शरीर वज्रवृषभनाराचसंहननवाला एवं परमौदारिक था जिससे उस पर उपसर्गोका कोई आघात ही नहीं हुआ? इन अन्तकृत् केवलियोंके साथ जब हम अनुत्तरौपपादिक मुनियोंके कथानकोंका मिलान करते हैं तब हमें पता चल जाता है कि यथार्थतः केवलीकी विशेषता क्या है। अनुत्तरौपपादिक मुनियोंको परीषह तो अन्तकृतोंके समान ही होते हैं, पर उनमें सूक्ष्म कषाय रूप आकुलता उत्पन्न हो जानेके कारण न उन्हें केवलज्ञान होता, और न मोक्ष। अतएव केवलीकी विशेषता यही है कि वे मोह को सर्वथा जीतकर वीतराग हो गये हैं जिससे उनमें सुख दुःखकी वेदना होते हुए भी कोई रागद्वेषात्मक आकुलता नहीं होती। यही उनका मानुषी प्रकृतिके पार चला जाना है, न कि वेदनाका अभाव। इसीलिये स्वामी समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रमें कहा है—

काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयः नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयः धीर तावकमचिन्त्यमीहितम्॥

इससे स्पष्ट है कि केवली भगवान्की मन वचन कायकी प्रवृत्तियोंमें चिकीर्षा अर्थात् रागका अभाव एवं समीक्षा अर्थात् ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है जिससे उनका चरित्र अचिन्त्य है।

(६) ऊपर किये गये विश्लेषणसे ही स्पष्ट है कि अघातिया कर्मजनित प्रवृत्तियोंसे केवलीके ज्ञानादिक गुणोंमें कोई बाधा नहीं पड़ती। यदि उनसे जीवके ज्ञानादिक गुणोंका घात होता तो ये भी घातिया ही माने जाते, अघातिया नहीं। यदि हम वेदनीय जन्य प्रवृत्तियोंको ज्ञानादि गुणों की घातक मानते हैं तो उसका अभिप्राय यह हुआ कि हम कर्मोंकी घातिया-अघातिया सम्बन्धी व्यवस्थाको बदलना चाहते हैं और वेदनीय को घातिया कर्मोंमें सम्मिलित करना चाहते हैं। उस अवस्थामें केवलज्ञान होनेसे पूर्व ही अन्य घातिया कर्मोंके समान वेदनीयके भी क्षय हो जाने का विधान करना पड़ेगा। क्या यही पंडितजी को इष्ट है ?

(७) पोषणकी स्पृहा व आहारकी वांछा मोह जनित होने से एक बात है और शारीरिक गुण–धर्मोंके अनुसार निस्पृह और वांछा रहित रूपसे प्रवृत्तियां दूसरी बात है। यदि कहा जाय कि स्पृहा व वांछाके विना कोई प्रवृत्तियां हो ही नहीं सकतीं, तो केवली की चर्या और उपदेशमें भी स्पृहा और वांछाका सद्भाव मानना पड़ेगा। मोहनीयके अभावसे राग–द्वेष परिणति नष्ट होकर शुद्ध वेदनीय जनित वेदनाओंका केवलीमें सद्भाव पाया जाता है, इसमें विडम्बना क्या है ? यथार्थतः तो वेदनीय कर्म को अघातिया मानना, फिर भी उसे मोहनीयके समान जीवगुणोंका घातक कहना; व केवलीके वेदनीय कर्मका उदय मानना और फिर भी उससे उत्पन्न हुई वेदनाओंका उनमें अभाव बतलाना ही एक ऐसी विडम्बना है जो

न तो किसी विवेकी को ग्राह्य हो सकती और न किसी भी न्यायसे सिद्ध होती। (खं. जै. हि. वर्ष २५ अंक १-२ ता. १ और १६ नवम्बर १९४४).

८

क्या तत्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारों का अभिप्राय एक ही है ?

(लेखक—प्रो० हीरालाल जैन, एम्. ए., एल्एल्. बी., नागपुर)

जैनधर्म में मुनियों के लिये परीषह सहन करने का नियम बड़ा मौलिक, महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक है। प्राचीनतम काल से लगाकर वर्तमान समय तक दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि सभी जैन सम्प्रदायों में परीषहों का विधान पाया जाता है, एवं परीषहों की संख्या, उनके क्रम और उनके स्वरूप में भी कहीं कोई बड़ा भेद नहीं पाया जाता। अतएव यह स्वाभाविक है कि तत्त्वार्थसूत्र जैसे जैनधर्म का सम्पूर्ण परिचय करानेवाले ग्रन्थ में परीषहों का विवेचन पाया जाय। इस विषय को सूत्रकार उमास्वाति ने कितना महत्त्वपूर्ण समझा है, यह इसी से अनुमान किया जा सकता है कि नौवें अध्याय में जहां उन्होंने समिति, गुप्ति, दश धर्म व बारह अनुप्रेक्षाओं को केवल एक एक ही सूत्र में निपटाया है, वहां परीषहों

का विवेचन उन्होंने ८ से लेकर १७ तक दश सूत्रों में किया है। पहले उन्होंने सूत्र ८ में परीषहों के दो प्रयोजन बतलाये हैं कि जिनोपदिष्ट मार्ग से च्युत न हो इसके लिये, तथा कर्मों की निर्जरा के लिये, परिषहों का सहन करना आवश्यक है। फिर सूत्र ९ में क्षुधा, पिपासा आदि २२ परीषहों का नामनिर्देश किया गया है। इसके पश्चात् सूत्र १०, ११ और १२ इन तीन सूत्रों में यह बतलाया गया है कि किन किन गुणस्थानों में उन बाईस में से कितने परीषह होना संभव है। यहां स्पष्ट विधान किया गया है कि सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थ वीतराग के चौदह परीषह होते हैं, जिन भगवान् के ग्यारह होते हैं, और बादरसाम्पराय तक सभी होते हैं। ऐसा भेद क्यों पड़ता है इसका कारण आगे के १३से१६तक चार सूत्रों में बतलाया गया है कि वे भिन्न भिन्न परीषह भिन्न भिन्न कर्मों से सम्बद्ध हैं। अतएव जहां तक उन कर्मों का उदय पाया जाता है तहां तक ही उनसे फलित होने वाली वेदनाओं के होने से उनके सहन करने रूप परीषह होते हैं। बादरसाम्पराय तक वे सभी कर्मोदय विद्यमान हैं, अतएव वहां तक सभी परीषह सहने योग्य होते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय होने पर सूक्ष्म लोभ को छोड़ शेष समस्त मोह कर्म के उदय का अभाव हो जाता है; अतएव दर्शनमोह जनित अदर्शन एवं चारित्रमोह जनित नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार, इन आठ परीषहों का भी अभाव हो जाता है, जिससे सूक्ष्मसाम्पराय व छद्मस्थ वीतराग के केवल शेष १४ परीषह ही होते हैं। किन्तु जब सयोगी गुणस्थान में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मों के उदय का भी अभाव

हो जाता है, तब उनसे सम्बद्ध प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ, इन तीन परीषहों का भी अभाव होकर केवल शेष ग्यारह परीषह रह जाते हैं जो कि वेदनीय कर्म के अनुषंगी हैं। और चूंकि वेदनीय कर्म का उदय अयोगी गुणस्थान के अन्तिम समय तक, अर्थात् जब तक शरीर और आयु है तब तक, बना रहता है, इसलिये ये ग्यारह परीषह अन्त तक सहनीय होते हैं। ये ग्यारह परीषह हैं—क्षुधा[१], पिपासा[२], शीत[३], उष्ण[४], दंशमशक[५], चर्या[६], शय्या[७], वध[८], रोग[९], तृणस्पर्श[१०] और मल[११]।

अब सूत्रकार की उक्त व्यवस्था पर उनके टीकाकार पूज्यपाद स्वामी व अकलंकदेव का क्या मन्तव्य है, यह देखना चाहिये। बादरसाम्पराय तक सभी परीषहों के मानने में तो कहीं कोई विशेषता नहीं है। सूक्ष्मसाम्पराय में भी टीकाकारों ने १४ परीषहों को स्वीकार किया है। पर शेष के निराकरण करने में उन्होंने जो सूक्ष्मसाम्पराय को सूक्ष्म लोभ के होते हुए भी छद्मस्थ वीतराग के समान मान लेने की कल्पना की है, वह आवश्यक नहीं है। जिन आठ परीषहों का सूक्ष्मसाम्पराय में अभाव कहा गया हैं वे दर्शनमोह और चरित्रमोह की उन प्रकृतियों से उत्पन्न होते हैं जिनके उदय का सूक्ष्मसाम्पराय से पूर्व ही अभाव हो चुका है। उनमें ऐसा कोई परीषह नहीं है जो सूक्ष्मलोभ से सम्बन्ध रखता हो। अतएव सूक्ष्मसाम्पराय में उनका अभाव मानना ठीक है, और इसके लिये सूक्ष्मसाम्पराय को वीतराग के समान मानने की स्थूल कल्पना आवश्यक नहीं है।

किन्तु छद्मस्थ वीतराग में चौदह परीषहों के सद्भाव मानने में टीकाकारों को आपत्ति उत्पन्न हुई है। उनका कहना है कि मोह के उदय की सहायता न होने से वीतराग के वेदनीय कर्म का उदय मन्द हो जाता है। अतएव उनके क्षुधादि वेदना का अभाव है, और इसलिये उनके उस वेदना के सहन करने रूप परीषह का मानना ठीक नहीं है। फिर भी सूत्रकार ने जो उनके चौदह परीषहों का सद्भाव कहा है वह शक्तिमात्र की विवक्षा से है, जिस प्रकार कि सर्वार्थसिद्धि-विमानवासी देव के सातवीं पृथिवी तक गमन करने की शक्ति मानी जाती है। आगे केवली जिनके जो ग्यारह परीषहों का विधान सूत्रकार ने किया है उसके सम्बन्ध में टीकाकारों को विशेष आपत्ति उत्पन्न हुई है, और नाना प्रकार से उस सूत्र का अर्थ बैठाने का प्रयत्न किया गया है। सर्वार्थसिद्धिकार की एक कल्पना यह है कि सूत्र में '**न सन्ति**' इतना वाक्यांश और जोड़कर ऐसा अर्थ कर लेना चाहिये कि 'जिन भगवान् में ग्यारह परीषह नहीं होते'। राजवार्तिककार ने "**कैश्चित्कल्प्यन्ते**" इतना वाक्यांश सूत्र में और समझ लेने की सलाह दी है जिससे सूत्र का अर्थ होगा 'कुछ आचार्य जिन भगवान् में ग्यारह परीषहों की कल्पना करते हैं'। इन कल्पनाओं के समर्थन में दोनों टीकाकारों का कहना है कि मोहनीय या घातिकर्मों की सहायता के अभाव से क्षुधादि वेदनाओं का भी अभाव हो जाता है। इसका राजवार्तिककार ने यह उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार मंत्र और औषधि के बल से जब विष द्रव्य की मारणशक्ति का क्षय कर दिया जाता है तब वह विष द्रव्य मरण कराने में समर्थ नहीं होता;

उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि द्वारा घातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर वेदनीय कर्म अपना फल दिखाने में असमर्थ हो जाता है, जिससे क्षुधादि वेदनायें नहीं होतीं। इसलिये केवली जिन में कोई परिषह नहीं होते। तथापि जिस प्रकार ज्ञानावरण का क्षय व पूर्ण ज्ञान का विकास हो जाने पर एकाग्रचिन्तानिरोध का भी अभाव हो जाता है, फिर भी उपचार से केवली में ध्यान की सत्ता मानते हैं, उसी प्रकार क्षुधादि वेदना रूप भाव परीषहों का अभाव होने पर भी वेदनीय कर्म के उदयरूप द्रव्य परीषह का सद्भाव मानकर जिन भगवान् में उपचार से ग्यारह परीषह कहे गये हैं।

टीकाकारों की इन सब युक्तियों पर से निम्न शंकायें उपस्थित होती हैं:—

(१) क्या **'एकादश जिने'** वाले सूत्र में **'न सन्ति'** या **'केश्चित्कल्प्यन्ते'** इतना वाक्य शेष जोड़ना युक्तिसंगत है?

(२) क्या वेदनीय कर्म के उदय में या उसकी तीव्रता में मोहनीय कर्म की सहायता अपेक्षित है? क्या वेदनीय कर्म का उदय मन्द हो जाने पर क्षुधादि वेदनाओं का अभाव हो जाता है?

(३) क्या घातिया कर्मों के क्षय हो जाने से वेदनीय कर्म की फलदायिनी शक्ति नष्ट हो जाती है?

(४) शक्तिमात्र की विवक्षा का क्या तात्पर्य है और सर्वार्थसिद्धि के देव का उदाहरण प्रकृत विषय पर किस प्रकार घटित होता है?

(५) मंत्रौषधि द्वारा विष द्रव्य के प्रभाव को नष्ट करने का उदाहरण प्रकृत में कहां तक घटित होता है?

(६) केवली में एकाग्रचिन्तानिरोध का अभाव और तिस पर भी ध्यान की कल्पना किस प्रकार होती है और उसकी उपमा प्रकृत विषय पर कहां तक ठीक बैठती है ?

अब मैं इन शंकाओं पर अपनी समझ के अनुसार कुछ विचार प्रकट करता हूँ—

(१) सूत्रों में किसी वाक्यशेष की कल्पना तभी की जा सकती है जब वे अपने रूपमें अधूरे हों और विना कुछ जोड़ उनका ठीक अर्थ ही न लगता हो। ऐसी अवस्था में दो प्रकार से वाक्यशेष की कल्पना की जा सकती है। एक तो ऐसे शब्दों की जो ऊपर के सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट हो चुके हैं और जिनकी अनुवृत्ति चालू है; और दूसरे कदाचित् ऐसे शब्दों की जो सूत्रकार की विशेष शैली के अनुसार हों और वह शैली अनेक स्थलों पर स्पष्ट दिखाई दे रही हो। प्रस्तुत '**एकादश जिने**' सूत्र में इन नियमों के अनुसार यदि कुछ शब्दों का अध्याहार किया जा सकता है तो एकादश के साथ '**परीषहाः**' का और वाक्यपूर्ति के के लिये अन्त में '**सन्ति**' का, जिससे परिपूर्ण सूत्रवाक्य होगा '**एकादश परीषहाः जिने सन्ति**' किन्तु यहां '**न सन्ति**' या '**कैश्चित् कल्प्यन्ते**' जोड़ने के लिये कोई आधार दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत इन वाक्यांशों को जोड़ने से कई आशंकाएं उठ खड़ी होती हैं जिनका कोई समाधान नहीं पाया जाता। जैसे, यदि यही सूत्रार्थ माना जावे कि 'जिन भगवान् में ग्यारह परीषह नहीं होते,' तो उससे स्वभावतः यह अनुमान होगा कि शेष ग्यारह होते हैं, वे कौन से हैं ? यदि यह वाक्यार्थ

लिया जाय कि ' कुछ आचार्य ग्यारह परीषहों की कल्पना करते हैं ' तो इससे अनुमान होगा कि सूत्रकार के सम्मुख प्रस्तुत विषय पर दो मतभेद उपस्थित थे, जिनमें से एक ही का उन्होंने यहां स्पष्ट उल्लेख किया और दूसरे का कोई स्पष्ट उल्लेख ही नहीं किया। इसपर से स्वभावतः अनुमान यही होगा कि सूत्रकार का मत उसी पक्ष में था जिसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है, इत्यादि। पर न तो प्रस्तुत प्रसंग में ऐसी कल्पना के लिये कोई आधार है और न शेष ग्रंथ में कहीं भी सूत्रकार ने ऐसी कथनशैली ग्रहण की है। अतः इन वाक्यशेषों की कल्पना निराधार प्रतीत होती है।

(२) यदि हम कर्मसिद्धान्तानुसार मोहनीय और वेदनीय कर्मों के स्वरूप पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्म की स्थिति और अनुभाग बन्ध मोहनीय कर्मोदय के आधीन हैं। जब मोहनीय कर्म का उदय मन्द-मन्दतर होने लगता है, तब उसी के अनुसार वेदनीय कर्म का स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है, और जब सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त में मोह के उदय का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वेदनीय का स्थितिबन्ध भी समाप्त हो जाता है। यहां तक तो वेदनीय कर्म मोहनीय के अधीन है। किन्तु बंधे हुए कर्म की सत्ता और उसके उदय में वेदनीय कर्म मोहनीय से सर्वथा स्वतंत्र है। मोहनीय का उदयाभाव ही नहीं, उसकी सत्तामात्र के क्षय हो जाने पर भी वेदनीय के बंधे हुए कर्मों की सत्ता जीव में बनी ही रहती है और वह बराबर उदय में आती रहती है, एवं उसकी तीव्रता व मन्दता उसीके अपने अनुभागोदय पर अवलम्बित रहती

है। जब मोहनीय कर्म का उदय रहता है, तब उसके योग से वेदनीयोदय के साथ राग-द्वेष परिणति का मिश्रण दिखाई देगा। मोहोदय के अभाव में राग-द्वेष परिणति का भी अभाव हो जायगा। पर उससे वेदनीयोदयजन्य शुद्ध वेदना कम नहीं होगी, अभाव तो बहुत दूर की बात है। हां, वेदनीय कर्म का उदय जितनी मात्रा में मन्द होगा उतनी ही मात्रा में क्षुधादि वेदनायें मन्द होती जावेंगी। किन्तु वेदना का सर्वथा अभाव तो तभी माना जा सकता है जब उस कर्म के उदय का सर्वथा अभाव हो जाय। इस प्रकार कर्मोदय, वेदना और परीषह की तीव्रता व मन्दता का तरतमभाव व अभाव उत्तरोत्तर आनुषङ्गिक रूप से होता है।

(३) जब वेदनीय कर्म की फलदायिनी शक्ति मोहनीय कर्म के अधीन नहीं है, तब अन्य घातिया कर्मों के अधीन तो हो ही कैसे सकती है। दर्शनावरण कर्म के अभाव से केवली की दृष्टि निर्मल होगी, ज्ञानावरण के अभाव से उनकी समझदारी परिपूर्ण होगी, एवं मोहनीय कर्म के अभाव से ऊपर कहे अनुसार राग-द्वेष प्रवृत्ति नहीं रहेगी। पर इनसे वेदनीय-कर्म-जन्य वेदना में तो कोई परिवर्तन न होगा। अन्तराय कर्म के अभाव से न केवल वेदनीय के उदय में कोई बाधा नहीं आयगी, बल्कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, इन शक्तियों के पूर्ण विकास में जो रूकावट हो रही थी वह दूर हो जायगी और उनकी पूर्ति का मार्ग खुल जायगा। नहीं तो इन शक्तियों की सार्थकता ही कहां सिद्ध होगी? अतएव यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि घातिया कर्मों के अभाव में वेदनीय की फलदायिनी शक्ति नष्ट या जर्जरित हो जाती है। सूक्ष्मसाम्पराय के

अन्त समय में जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का स्थिति-बन्ध अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है, उसी समय वेदनीय का स्थितिबन्ध उपशमक के चौबीस मुहूर्त और क्षपकके बारह मुहूर्त होता है, एवं क्षपक के वेदनीय का स्थितिसत्व थोड़ा नहीं असंख्यात वर्ष प्रमाण होता है जो क्षीणकषाय और सयोगी एवं अयोगी गुणस्थानों में बराबर अपनी स्थिति अनुसार अनुभाग का उदय दिखाया करता है। सयोगी जिन विहार करते हुए कर्मप्रदेशों की निर्जरा करते हैं, पर वे भी उक्त कर्म-स्थिति को बहुत नहीं घटा पाते। वह फिर भी प्रायः आयु की स्थिति से अधिक ही शेष रह जाती है; अतएव उसकी स्थिति को आयु प्रमाण करने के लिये उन्हें एक विशेष महत्त्वपूर्ण क्रिया करनी पड़ती है जिसे समुद्घात कहते हैं। यह समुद्घात क्रिया वे आयु के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर करते हैं। उस अन्तर्मुहूर्त में भी अयोगी के अन्तिम समय तक वेदनीय का उदय बराबर बना रहता है और उसका उदयाभाव और क्षय आयु के अन्त होने के साथ ही हो पाता है। ऐसी अवस्था में यह कैसे माना जाय कि घाति कर्मों के क्षय होने से ही वेदनीय कर्म की उदयशक्ति क्षीण हो जाती है?

(४) शक्ति का सद्भाव होते हुए भी उसके उपयोग का अभाव वहीं पर माना जा सकता है जहां उसका कोई प्रतिबन्धक कारण मौजूद हो। सर्वार्थसिद्धि के देव में यदि सातवीं पृथिवी तक जाने की शक्ति है और फिर भी वह देव वहां जाता नहीं है, तो इसमें प्रतिबन्धक कारण यह मानना पडेगा कि उसके वहां तक गमनागमन कराने वाले वेदनीय कर्म का अभाव है। और यही अभाव उस शक्ति

के उपयोग का प्रतिबन्धक है। पर वीतराग में ऐसा कोई प्रतिबन्धक कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। बल्कि उसके विपरीत वेदनीय जन्य चर्यादि क्रियायें स्पष्टतः मानी ही जाती हैं। तब फिर उनकी वेदना होने में कौन सी शक्तिका प्रतिबन्ध लगता है यह जान नहीं पड़ता।

(५) जिन मंत्रों और औषधियों में विष द्रव्य के प्रभाव को नष्ट करने की शक्ति होगी उनके प्रयोग से विष द्रव्य का प्रभाव अवश्य घट जायगा या नष्ट हो जायगा। किन्तु क्या घातिया कर्मों के नाश और वेदनीय आदि अघातिया कर्मों के उदयाभाव में भी उसी प्रकार का कारण-कार्य सम्बन्ध है? विचार करने से ज्ञात होगा कि वैसा नहीं है। हम ऊपर देख ही चुके हैं कि उक्त कर्मों में एक दूसरे की फलदायिनी शक्ति को नष्ट करनेका सामर्थ्य नहीं है। ऐसी अवस्था में उक्त उदाहरण प्रस्तुत विषयपर घटित नहीं होता।

(६) केवली के एकाग्रचिन्तानिरोध रूप ध्यान भले ही न होता हो, पर जो ध्यान उनके माना जाता है वह यथार्थतः चिन्ता-निरोध रूप नहीं, किन्तु क्रमशः योगों के निरोध रूप होता है। बादर और सूक्ष्म काय, वचन और मन का किस प्रकार एक के द्वारा दूसरे का निरोध किया जाता है, यही केवली की ध्यान क्रिया है जो उपचार से नहीं मानी गई, किन्तु यथार्थता से होती है। इस प्रकार दृष्टान्त में भी उपचार घटित नहीं होता, और दार्ष्टान्त में तो बिलकुल नहीं होता। वेदनीय कर्म का उदय होते हुए द्रव्य-परीषह का सद्भाव और वेदनारूप भावपरीषह का अभाव कैसे घटित होगा सो कुछ समझ में नहीं आता। वेदनीय कर्म का उदय जीव में वेदना उत्पन्न किये विना होगा ही किस प्रकार? वह कर्म

तो जीवविपाकी है जो अपनी फलदायिनी शक्ति को जीव में वेदना रूप से ही प्रकट करेगा। और उसी वेदना के सहन करने से परीषह होगा। इसके अनुसार जो शारीरिक क्रिया होगी उसे द्रव्य-परीषह कहा जा सकता है। अतएव वेदनारूप भावपरीषह के विना द्रव्यपरीषह हो ही कैसे सकता है, और उसमें उपचार मानने की गुंजाइश ही क्या है!

इस प्रकार जहां तक हम विचार करते हैं टीकाकारों का विवेचन न तो सूत्रकार के वचनों की सार्थकता सिद्ध करने में समर्थ होता और न कर्मसिद्धान्त के नियमों के अनुसार बैठता। यदि हम टीकाकारों के मत को स्वीकार करते हैं तो हमें उपलब्ध कर्मसिद्धान्त को अप्रामाणिक कहना पड़ेगा, और यदि हम कर्मसिद्धान्त की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं तो टीकाकारों का विवेचन उपयुक्त नहीं सिद्ध होता। किन्तु सूत्रकार के जो वचन हैं, उन्हें यदि हम प्रारम्भ में प्रकट किये अनुसार अर्थ में लेवें तो उनका कर्मसिद्धान्त से ठीक सामञ्जस्य बैठता है।

उक्त टीकाकारों के अतिरिक्त यदि हम दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनतम तार्किक समन्तभद्र स्वामी का उक्त विषयपर मत जानना चाहते हैं तो हमें उनकी आप्तमीमांसा देखनी चाहिये। यहां उन्होंने आप्त में दोष और आवरण की हानि आवश्यक बतलाई है। उनके विद्वान् टीकाकार विद्यानन्दि स्वामी के अनुसार दोषका अभिप्राय ज्ञानावरणादि भावकर्मों से है और आवरण का अभिप्राय उन्हीं के द्रव्यकर्मों से (देखो आप्तमीमांसा १,४-६)। पर वेदनीय जैसे अघातिया कर्मों के भाव व द्रव्य उदय से यहां तात्पर्य नहीं हो सकता,

क्योंकि आगे नौवें परिच्छेद में वीतराग के भी दुःख की वेदना स्वीकार की गई है। ऐसी अवस्था में मर्मज्ञ विद्वानों को विचार कर स्पष्ट करना चाहिये कि सूत्रकार और उनके टीकाकारों का क्या एक ही अभिप्राय है, या भिन्न भिन्न। (जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, भाग १०, किरण २, दिसम्बर १९४३)

९

क्या षट्खंडागमसूत्रकार और उनके टीकाकार वीरसेनाचार्य का अभिप्राय एक ही है ?

[लेखक—प्रो. हीरालाल जैन, एम. ए., एल्.एल्. बी. नागपुर]

दिगम्बर सम्प्रदायके साहित्यमें पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों द्वारा विरचित षट्खंडागम सूत्र सबसे प्राचीन, जैनसिद्धान्त का पूर्णतम विवेचन करनेवाले, एवं सर्वोपरि प्रमाणभूत ग्रंथ माने जाते हैं। इन सूत्रोंकी वीरसेनाचार्य द्वारा विरचित एकमात्र धवला टीका उपलब्ध है जिसके कारण यह ग्रंथरचना धवल सिद्धान्तके नामसे प्रसिद्ध है। यह सूत्र और टीकारूप रचना दिगम्बर सम्प्रदायमें पूज्य माने जानेपर भी कोई एक हजार वर्षसे लुप्तप्राय थी और इसकी एकमात्र ताडपत्रीय प्रति कर्नाटक देशके मूडबिद्री नामक स्थान पर सुरक्षित बच रही थी। सौभाग्यसे गत बीस वर्षके

भीतर इस रचनाकी प्रतिलिपियां जिज्ञासुओंको उपलब्ध हो गई और गत पांच छह वर्षसे इनका क्रमशः प्रकाशन भी हो रहा है। इन ग्रंथोंके अवलोकनसे जैन सिद्धान्तके अन्तरंगकी अनेक व्यवस्थाओंपर गहरा प्रकाश पड़ रहा है और अनेक विचारणीय बातें सन्मुख आ रही हैं। यहां हमें इनमेंसे एक ऐसी ही महत्त्वपूर्ण व्यवस्थापर गम्भीरतासे विचार करना है।

षट्खंडागमके प्रथम खंड 'जीवट्ठाण' में सत्, संख्या, क्षेत्र आदि प्ररूपणाओंमें गुणस्थान व मार्गणास्थानोंके प्रतिपादनके लिये मनुष्योंके चार भेद किये गये हैं– मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्य। और सत्प्ररूपणाके सूत्र ८९ से ९३ तकके पांच सूत्रोंमें इनके गुणस्थान बतलाये गये हैं। सूत्र ८९ में मनुष्यमात्रकी पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्थामें, मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानोंका एवं सूत्र ९० में उनकी पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्मिथ्यादृष्टि संयतासंयत आदि शेष समस्त गुणस्थानोंका प्रतिपादन किया गया है। सूत्र ९१ में ये ही चौदहों गुणस्थान पर्याप्त मनुष्योंमें सम्भव बतलाये हैं। इसके आगे सूत्र ९२ और ९३में मनुष्यनियोंके गुणस्थान कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥ सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे +णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

+ यहां यद्यपि उपलब्ध प्रतियोंमें '–संजदासंजदट्ठाणे' ही पाठ है उसके आगे 'संजद' इतना पाठ नहीं है तथापि ग्रंथके सम्पादकोंने सूत्रकी धवला टीका एवं अन्य प्ररूपणाओंपरसे यह निश्चय किया है कि यहां 'संजद' इतना पाठ छूट गया है, वह होना अवश्य चाहिये।

अर्थात् मनुष्यनियोंमें मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान तो उनकी पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें संभव हैं, किन्तु शेषके समस्त गुणस्थान उनकी पर्याप्त अवस्थामें ही हो सकते हैं।

यहां स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थानोंके प्रतिपादनसे क्या सूत्रकारका अभिप्राय द्रव्य स्त्रीकी मुक्तिके पक्षमें है? यही प्रश्न धवलाकार वीरसेन स्वामीके सन्मुख उपस्थित हुआ है और उन्होंने अपनी टीकामें इस प्रकार शंका-समाधान किया है—

१ **शंका**—इस आर्ष वाक्यसे तो द्रव्यस्त्रियोंके निर्वाणकी सिद्धि होती है?

समाधान—नहीं होती, क्योंकि स्त्रियोंके वस्त्र सहित रहनेसे उनके अप्रत्याख्यान अर्थात् संयमासंयम गुणस्थान होता है, एवं पूर्ण प्रत्याख्यान रूप संयमकी उत्पत्ति नहीं होती।

२ **शंका**—वस्त्रसहित होते हुए भी उनके भावसंयम होने में क्या विरोध आता है?

समाधान—उनके भाव संयम भी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्रादिका ग्रहण भाव-असंयमके विना हो ही नहीं सकता।

३ **शंका**—तब फिर उनमें चौदहों गुणस्थान किस प्रकार घटित होंगे?

समाधान—भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगतिमें चौदहों गुणस्थान मानलेनेमें कोई विरोध नहीं आता।

४ शंका—भाववेद तो बादरकषाय अर्थात् नौवें गुणस्थानसे ऊपर होता ही नहीं है, अतएव भाववेद सहित चौदहों गुणस्थान कैसे संभव हैं?

समाधान—यहां वेदकी प्रधानता नहीं है किन्तु गति ही प्रधान है और गति कुछ बादर कषायसे ऊपर भी नष्ट नहीं होती।

५ शंका—इस प्रकार विशेषण युक्त गतिमें तो चौदह गुणस्थान संभव नहीं हुए?

समाधान—न होने दो। किन्तु विशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे उसी संज्ञाको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें चौदहों गुणस्थान मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता।

इन शंका-समाधानोंकी जड़में निम्न मान्यताएं दिखाई देती हैं—

१. वस्त्रत्यागके विना भावसंयम हो ही नहीं सकता। वस्त्र-ग्रहणका असंयमके साथ अविनाभावी संबंध है।

२. स्त्रियां कभी वस्त्रका परित्याग नहीं कर सकतीं, जिससे उनके न कभी द्रव्यसंयम हो सकता और न भावसंयम। अतएव वे पांचवें गुणस्थानसे ऊपर जा ही नहीं सकतीं, और निर्वाण भी नहीं प्राप्त कर सकतीं।

३. किन्तु पुरुषोंमें स्त्रीवेदका उदय हो सकता है और वे चौदहों गुणस्थान प्राप्त करके मोक्ष जा सकते हैं। ऐसे ही मनुष्योंको ध्यानमें रखकर सूत्रकारने मनुष्यनियोंमें चौदहों गुणस्थानों का प्रतिपादन किया है।

४. यद्यपि चौदहों गुणस्थानों तक वेदकी सत्ता नहीं रहती,

तथापि पहले वेदके सद्भावमें जिन्हें मनुष्यनी कहा उन्हें ही वेदके अभावमें भी उपचारसे उसी नामसे संबोधित किया है। और यह इस कारण संभव है कि यहां वेदकी प्रधानता न होकर गतिकी प्रधानता है।

ये मान्यताएं कहां तक सूत्रकार सम्मत हैं यह बात विचारणीय है। षट्खंडागम सूत्रोंमें जहां तक हम देख सके हैं इन मान्यताओंका कोई उल्लेख या स्पष्ट आधार हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। प्रथम मान्यताके सम्बन्धमें यह ध्यान देने योग्य है कि अन्य दिगम्बरीय प्रामाणिक ग्रंथोंमें द्रव्यलिंगी और भावलिंगी श्रमणोंकी अलग अलग सत्ता स्वीकार की गई है। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने अपने भावपाहुडमें ऐसे भावश्रमणोंका उल्लेख किया है। ऐसे ही एक शिवभूति भावसे विशुद्ध होकर केवलज्ञानी हुए (भा. पा. ५३) व शिवकुमार नामक भावश्रमण संसारसे पार उतर गये (भा. पा. ५१). शिवार्यने अपनी भगवती-आराधनामें मुनियोंके उत्सर्ग मार्गके अतिरिक्त अपवाद मार्गका भी विधान किया है जिसके अनुसार विशेष परिस्थितिमें मुनि वस्त्र भी धारण कर सकता है (भ. आ. गाथा ७९ आदि)। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वातिने जिन पुलाकादि पांच प्रकारके निर्ग्रंथोंका उल्लेख किया है उनमें उन्होंने लिंगभेदकी अपेक्षा विचार करनेका भी आदेश दिया है (त. सू. ९, ४६-४७) व सर्वार्थसिद्धिकार देवनन्दि पूज्यपादने अपनी टीकामें कहा है कि " लिंग दो प्रकारका होता है- द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंगकी अपेक्षा तो पांचों ही निर्ग्रंथ लिंगी हैं, किन्तु द्रव्यलिंगकी अपेक्षा

उनमें विकल्प हैं* । इस स्थलपर श्रुतसागर जैसे कट्टर दिगम्बरी टीकाकारने भी लिखा है कि "कुछ महर्षि जो असमर्थ होते हैं वे शीतकालादिमें कंबल कौशेयादि ग्रहण कर लेते हैं। कुछ मुनि शरीरमें उत्पन्न दोषोंसे लज्जित हुए वस्त्र ग्रहण करते हैं ऐसा भगवती-आराधनामें उक्त अभिप्रायसे अपवाद रूप जानना चाहियेx ।" इस प्रकारके अनेक उल्लेखोंके प्रकाशमें धवलाकारका यह कथन कि वस्त्रग्रहण भाव असंयमका अविनाभावी है कहां तक ठीक है यह विचारणीय है ।

(२) यदि पुरुष वस्त्र धारण करके भी भावसंयमी हो सकते हैं तो स्त्रियोंके परिमित वस्त्र धारण करने पर भी संयमकी उत्पत्तिमें बाधा क्यों आना चाहिये ? भगवती-आराधना व मूलाचारमें जिस प्रकार मुनियोंका आचार बतलाया है उसी प्रकार आर्यिकाओंका भी। मूलाचारमें मुनियोंको विरत और आर्यिकाओंको 'विरती' कहा है । मुनियोंके गणी हैं तो आर्यिकाओंकी 'गणिनी' हैं। सामाचार अधिकारके अन्तमें तो वट्टकेरिने यहां तक कहा है कि इस प्रकार चरित्रका जो भी साधु व आर्यिका पालन

---

*लिंगं द्विविधं-द्रव्यलिंगं भावलिंगं चेति । भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्गंथा लिंगिनो भवन्ति । द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः (स. सि. ९, ४७).

x द्रव्यलिंगं प्रतीत्येति-तत्किम् ? केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कंबलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति । केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषाल्लज्जितत्वात्तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यं (स. सि. ९. ४७ पर श्रुतसागरी टीका)।

करती हैं वे जगमें पूजा, कीर्ति और सुख पाकर सिद्ध होते हैं*। वस्त्रमात्रके होनेपर भी भावसंयम द्वारा मुक्ति प्राप्तिके उल्लेख हम ऊपर देख ही चुके हैं। तत्वार्थसूत्रकारने भी लिंगकी अपेक्षा सिद्धोंमें विकल्प करनेका आदेश किया है (त. सू. १०, ९) और सर्वार्थसिद्धकारने उस स्थलपर स्पष्ट कहा है कि निर्ग्रंथ व सग्रंथ लिंगसे सिद्धि होती है+। यहां श्रुतसागरजीने इस प्रकार समाधान किया है कि "पूर्वमें निर्ग्रंथ था पश्चात् किसीने उपसर्गसे आभरणादिक पहना दिये, जैसे कि तीन पाण्डव आभरणों सहित मोक्ष गये। इस प्रकार पांडवादिके समान ग्रंथता उपसर्गके वशसे समझना चाहिये।" किन्तु यह समाधान सन्तोषकारक नहीं है। जब भावश्रमणकी द्रव्य लिंगके विना मुक्ति मान ली गई एवं पांचों निर्ग्रंथोंमें भी द्रव्यलिंगकी अपेक्षा विकल्प स्वीकार कर लिया गया तब सग्रंथ लिंगसे मुक्ति स्वीकार करनेमें उक्त कल्पनाकी आवश्यकता नहीं रहती।

यथार्थतः यदि स्त्रियोंमें संयमासंयमसे ऊपरका गुणस्थान संभव ही न माना जाय तो श्राविका संघसे आर्यिका संघकी पृथक् व्यवस्था बनती ही नहीं है। जिस प्रकार पांचवें गुणस्थान तकके पुरुष, चाहे वे क्षुल्लक ऐलक ही क्यों न होजांय, श्रावक ही माने जाते हैं, मुनि नहीं। उसी प्रकार उक्त गुणस्थान तककी

---

* एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ। ते जगपुज्जं किर्ति सुहं च लद्धुण सिज्झंति ॥ मू. सा. अ. १९६.

+ निर्ग्रंथलिंगेन सग्रंथलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया (स. सि. १०, ९)। यहां भूत नयसे अभिप्राय सिद्ध होने से पूर्वकी अवस्थासे है। सिद्ध अवस्थाको प्रत्युत्पन्न नय से प्रकट किया है।

स्त्रियोंका समावेश श्राविका संघमें ही होगा। उससे ऊपर आर्यिका संघकी पृथक् व्यवस्था तभी स्वीकार की जा सकती है जब उनमें पांचवेंसे ऊपरके गुणस्थानोंकी उत्पत्ति मानी जावे।

३ तीसरी मान्यताके सम्बन्धमें मुख्यतया दो आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। एक तो यह कि पुरुषशरीरी जीवमें स्त्रीवेदका उदय व स्त्रीशरीरी जीवमें पुरुषवेदका उदय सिद्धान्तानुसार घटित नहीं होता। चक्षु, कर्ण, श्रोत्र आदि उपांगोंकी उत्पत्तिका क्रम यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार जीवके ज्ञानावरणका क्षयोपशमभाव होगा उसी प्रकार वीर्यअन्तरायका भी क्षयोपशम होगा और उसी अनुसार अंगोपांग नामकर्म द्वारा उपांगोंकी पुद्गलरचना होगी। ज्ञानावरणीय व वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे निरपेक्ष अंगोपांग नामकर्म किसी इंद्रियकी पुद्गल रचना नहीं कर सकता। उसी प्रकार वेद-नोकषायकी जिस प्रकृतिका उदय होगा उसीके अनुरूप वीर्यान्तरायका क्षयोपशम व अंगोपांग नामकर्मका उदय होगा। पुद्गलविपाकी नामकर्ममें वेदोदयकी सत्ता विना पुरुष व स्त्री लिंगोंकी रचनाकी क्षमता नहीं है, क्योंकि ऐसी पृथक् प्रकृतियां अंगोपांग नामकर्ममें हैं ही नहीं। यथार्थतः नामकर्मकी कोई भी प्रकृतियां अपने कार्यमें सर्वथा स्वतंत्र व अन्यकर्मनिरपेक्ष नहीं हैं। गतिका उदय आयुकर्मके अनुसार ही होगा। जातिका उदय मतिज्ञानावरणीयके क्षयोपशमका ही अनुगामी होगा। शरीर, बंधन, संघातादि आयु अनुसार गतिका ही अनुसरण करेंगे, इत्यादि। और जिस प्रकार इन्द्रियोंके विषय प्रतिनियत हैं उसी प्रकार प्रत्येक

द्रव्यवेद अपने अपने भाववेदसे संबद्ध है। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे कर्ण इन्द्रिय उत्पन्न नहीं हो सकती और न कर्ण इन्द्रियसे रूपका ज्ञान हो सकता, उसी प्रकार न स्त्रीवेदोदयसे पुरुषलिंगकी उत्पत्ति हो सकती और न पुरुषलिंगसे स्त्रीवेदका अनुभव हो सकता, प्रत्येक वेद अपने अपने उपांगसे बंधा हुआ है जिससे उस उस वेदके सद्भावमें उसी के अनुरूप उपांगमें उत्तेजना उत्पन्न होती है। और चूंकि उपांगरचना एक जीवनभरमें बदल नहीं सकती इसीलिये एक पर्याय भरमें एक ही वेदोदय संभव माना गया है।

दूसरी आपत्ति यह है कि यदि पुरुषशरीरमें स्त्रीवेदका एवं स्त्रीशरीरमें पुरुषवेदका सद्भाव स्वीकार ही किया गया और भाववेद मात्रकी विवक्षानुसार. सूत्रकारकृत मनुष्य और मनुष्यनी विभाग माने गये तो उससे यह व्यवस्था निकलेगी कि जिस प्रकार पुरुषशरीरी स्त्रीवेदी जीव मनुष्यनियोंमें सम्मिलित किये गये, उसी प्रकार स्त्रीशरीरी पुरुषवेदी जीव पर्याप्त मनुष्योंमें अन्तर्भूत होंगे और पर्याप्त मनुष्योंके लिये जो गुणस्थानादि व्यवस्थाएं बतलाई गई हैं वे उन्हें लागू होंगीं। इस प्रकार यह तीसरी मान्यता आगम परम्परानुसार चिन्तनीय है।

४ धवलकारने उक्त प्रकरणमें जो चौथी और पांचवीं शंकाओंका समाधान किया है उससे तो उनके समस्त प्रतिपादनकी कचाई प्रकट हो जाती है। जिस वेदकी अपेक्षासे मनुष्य मनुष्यनी विभाग कल्पित किये, उसकी सत्ता मात्रके अभावमें भी उस विभाग

के आधारसे दशवें आदि गुणस्थानोंका प्रतिपादन युक्तिसंगत नहीं ठहरता। यहां उपचारसे मनुष्यनी संज्ञा मानना और विशेषणके छूट जानेपर भी भूतपूर्व न्यायसे कथन किया जाना बतलाकर धवलाकारने अपनी पूर्वोक्त मान्यताओंकी भले ही कुछ रक्षा करली हो, किन्तु उन्होंने सूत्रकारकी सारी व्यवस्थाको बड़ी शिथिल और सदोष प्रमाणित कर दी। मुख्य कथनमें जहां उपचार और भूतपूर्व न्यायादिसे काम लेना पड़ा वहां सिद्धान्तकी जड़ कमजोर प्रकट होगी। यदि वेदकी प्रधानता छोड़कर गतिकी प्रधानतासे ही कथन करना था तो वेदके अनुसार यहां भेद ही क्यों किये? यथार्थतः प्रस्तुत प्रकरणमें तो योग मार्गणा चल रही थी और काययोगके सिलसिलेमें इन विभागोंके अनुसार कथन किया गया है। मनुष्य गतिकी प्रधानतासे तो गतिमार्गणामें ऊपर सूत्र २७ में गुणस्थान प्ररूपण किया जा चुका है। वेदमार्गणानुसार प्ररूपण आगे सूत्र १०१ आदि में किया गया है और वहां अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक ही वेदोंके आधारसे कथन है। उससे आगेके गुणस्थानोंको अपगतवेद कहा है। धवलाकारका समाधान कितना असंतोषजनक है यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मानलो कुल विद्यार्थियोंके उनकी योग्यतानुसार हमने दो विभाग किये एक वर्गमें नौ पुस्तकें सीखनेकी योग्यता स्वीकार की और दूसरे वर्गमें उससे आगे शेष पांच पुस्तकोंकी। किन्तु प्रथम वर्गके पाठ्य क्रममें हमने चौदहों पुस्तकें रखदीं और जब किसीने पूछा कि क्या चौदहों पुस्तकें इस वर्गमें पठनीय हैं तब कहा नहीं, किन्तु *इस वर्गकी योग्यताका ख्याल न करके विद्यार्थी मात्रकी योग्यताकी दृष्टिसे ये पाठ्य पुस्तकें रख दी गई हैं।* पर यदि वह पूछे कि जब

आपको विद्यार्थी मात्रका ख्याल था तो इसे प्रथम वर्गका पाठ्यक्रम क्यों कहा, तो इसका हमारे पास क्या उत्तर है! इस प्रकार यथार्थतः यहां भाववेदकी विवक्षा कोई सार्थकता नहीं रखती और न उसे छोड़कर गतिकी प्रधानता सिद्ध होती।

इन आपत्तियोंके प्रकाशमें टीकाकारका स्पष्टीकरण सूत्रकारके सैद्धान्तिक निरूपणके अनुकूल प्रतीत नहीं होता। पर यदि हम यहां पर्याप्त मनुष्यसे द्रव्यपुरुष और मनुष्यनीसे द्रव्यस्त्रीका अभिप्राय ग्रहण करें तो उक्त कोई दोष यहां उत्पन्न नहीं होते। अतएव पाठक इस महत्वपूर्ण प्रश्नपर सूत्रकारके निरूपण एवं कर्मसिद्धान्तके वास्तविक तत्त्वोंके अनुसार विधान करनेकी कृपा करें। (जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा, भाग ११ किरण १ जून १९४४)।

१०

क्या षट्खंडागम जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके सूत्र ९३ में संयत पद अपेक्षित नहीं है?

[प्रो० हीरालाल जैन, नागपुर]

षट्खंडागम जीवट्ठाण सत्प्ररूपणा के सूत्र ९३ का जो पाठ उपलब्ध प्रतियों में पाया जाता है उसमें संयत पद नहीं है। किन्तु उसका सम्पादन करते समय सम्पादकोंको यह प्रतीत हुआ कि वहां 'संयत' पद होना अवश्य चाहिये और इसीलिये उन्होंने

फुटनोटमें सूचित किया है कि "अत्र 'संजद' इति पाठशेषः प्रतिभाति।" तथा हिन्दी अनुवादमें संयत पद ग्रहण भी किया है। इस पर कुछ पाठकोंने शंका भी उत्पन्न की थी जिसका समाधान पुस्तक ३ की प्रस्तावनाके पृष्ठ २८ पर किया गया है। इस समाधानमें ध्यान देने योग्य बातें ये हैं कि एक तो उक्त सूत्रकी धवला टीकामें जो शंका-समाधान किया गया है वह मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थान ग्रहण करके ही किया गया है। दूसरे सत्प्ररूपणाके आलाप अधिकारमें भी धवलाकारने सामान्य मनुष्यनी व पर्याप्त मनुष्यनीके अलग अलग चौदहों गुणस्थान प्ररूपित किये हैं। तीसरे द्रव्यप्रमाणादि प्ररूपणाओंमें भी सर्वत्र मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थान कहे गये हैं। और चौथे गोम्मटसार जीवकांडमें भी मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थानोंकी परम्परा पायी जाती है, पांच गुणस्थानों की नहीं। इन प्रमाणोंपरसे स्पष्ट है कि यदि उक्त सूत्रमें संयत पद ग्रहण न किया जाय तो शास्त्रमें एक बड़ी भारी विषमता उत्पन्न होती है। अतएव षट्खंडागमके सम्पादनमें जो वहां संयत पदकी सूचना करके भाषान्तर किया गया है वह सर्वथा उचित और आवश्यक है।

किन्तु मनुष्यनीके कहीं भी केवल पांच गुणस्थानोंका उल्लेख न पाकर कुछ लोग इसी सूत्रको स्त्रियोंके केवल पांच गुणस्थानोंकी योग्यताका मूलाधार बनाना चाहते हैं। परन्तु इसके लिये उन्हें उपर्युक्त चार बातों का उचित समाधान करना आवश्यक है जो वे अभी तक नहीं कर सके। एक हेतु यह दिया जाता है कि प्रस्तुत सूत्रमें मनुष्यनीका अर्थ द्रव्य स्त्री स्वीकार करना चाहिये

और द्रव्यप्रमाणादिमें जहां मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं वहां भावकी अर्थ लेना चाहिये। किन्तु ऐसा करनेपर शास्त्रमें यह विषमता उत्पन्न होगी कि उक्त प्रकरणमें जिन जीवोंके गुणस्थान बतलाये उनका द्रव्यप्रमाण नहीं बतलाया और जिनका द्रव्यप्रमाण बतलाया है उनके सब गुणस्थानोंका सत्त्व ही प्रतिपादित नहीं किया, तथा धवलाकारने वह शंका-समाधान अप्रकृत रूपसे किया एवं आलापाधिकार भी निराधार रूपसे लिखा। पर धवलाकारने स्वयं अन्यत्र यह स्पष्ट कर दिया है कि जिन जीवोंके जो गुणस्थान प्रतिपादित किये गये हैं उन्हीं जीवोंके उसी प्रकार द्रव्यप्रमाणादि बतलाये गये हैं। उदाहरणार्थ सत्प्ररूपणाके ही सूत्र २६ में जो तिर्यंचोंके पांच गुणस्थान कहे गये हैं वहां धवलाकार शंका उठाते हैं कि तिर्यंच तो पांच प्रकारके होते हैं– सामान्य, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, तिर्यंचनी और अपर्याप्त, इनमेंसे किनके पांच गुणस्थान होते हैं यह सूत्रसे ज्ञात नहीं हो सका। इसका वे समाधान इस प्रकार करते हैं—

न तावदपर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यक्षु पंच गुणा सन्ति, लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगुणासम्भवात्। तत्कुतोऽवगम्यत इति चेत् ‘पंचिंदियतिरिक्खअपज्जत्तमिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, ‘असंखेज्जा’ इदि तत्रैकस्यैव मिथ्यादृष्टिगुणस्य संख्यायाः प्रतिपादकार्षात्। शेषेषु पंचापि गुणस्थानानि सन्ति, अन्यथा तत्र पंचानां गुणस्थानानां संख्यादिप्रतिपादकद्रव्याद्यार्षस्याप्रामाण्यप्रसंगात्। (पुस्तक १ पृ. २०८-२०९)।

इस शंका–समाधानसे यह बातें सुस्पष्ट हो जाती हैं कि सत्वप्ररूपणा और द्रव्यप्रमाणादि प्ररूपणाओंका इस प्रकार अनुषंग

है कि जिन जीवसमासोंका जिन गुणस्थानोंमें द्रव्यप्रमाण बतलाया गया है उनमें उन गुणस्थानोंका सत्त्व भी स्वीकार किया जाना अनिवार्य है। और यदि वह सत्त्व स्वीकार नहीं किया तो वह द्रव्यप्रमाण प्ररूपण ही अनार्ष हो जावेगा। यही बात द्रव्यप्रमाणके प्रारम्भमें भी कही गई है कि—

"संपहि चोद्दसण्हं जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाणं सिस्साणं तेसिं चेव परिमाणपडिबोहणट्ठं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह।" (पुस्तक ३ पृ. १)।

अर्थात् जिन चौदह जीवसमासोंका अस्तित्व शिष्योंने जान लिया है उन्हींका परिमाण बतलानेके लिये भूतबलि आचार्य आगे सूत्र कहते हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्यनीके सत्वमें केवल पांच और द्रव्यप्रमाणादि प्ररूपणमें चौदह गुणस्थानोंके प्रतिपादनकी बात बन नहीं सकती। और यदि उनका द्रव्यप्रमाण चौदहों गुणस्थानोंमें कहा जाना ठीक है तो यह अनिवार्य है कि उनके सत्वमें भी चौदहों गुणस्थान स्वीकार किये जांय।

एक बात यह भी कही जाती है कि जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणा पुष्पदन्ताचार्यकृत है और शेष प्ररूपणायें भूतबलि-आचार्यकी। अतएव संभव है कि पुष्पदन्ताचार्यको मनुष्यनीके पांच ही गुणस्थान इष्ट हों। किन्तु यह बात भी संभव नहीं है क्योंकि यदि उक्त सूत्रमें पांच गुणस्थान ही स्वीकार किये जांय तो उसका उसी सत्प्ररूपणाके सूत्र १६४-१६५ से विरोध पड़ेगा जहां स्पष्टतः सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य और मनुष्यनी इन तीनोंके असंयत, संयतासंयत व संयत इन सभी गुणस्थानोंमें क्षायिक, वेदक और उपशम सम्यक्त्व स्वीकार किया गया है। यथा—

मणुसा असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ एवं मणुस-पज्जत्त-मणुसिणीसु ॥ १६४-१६५ ॥

इन सूत्रोंके सद्भावमें स्वयं पुष्पदन्तकृत सत्प्ररूणामें ही मनुष्यनी के संयत गुणस्थान व तीनों सम्यक्त्वोंका सद्भाव स्वीकार किया गया है।

इन सब प्रमाणों व युक्तियोंसे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणाके सूत्र ९३ में संयत पदका ग्रहण करना अनिवार्य है। यदि उसका ग्रहण नहीं किया जाय तो शास्त्रमें बड़ी विषमता और विरोध उत्पन्न हो जाता है। इस परिस्थितिमें यदि उसी सूत्रके आधारपर स्त्रियोंके केवल पांच ही गुणस्थानोंकी मान्यता स्थिर की जाती है तो कहना पड़ेगा कि यह मान्यता एक स्खलित और त्रुटित पाठके आधारसे होनेके कारण भ्रान्त और अशुद्ध है।